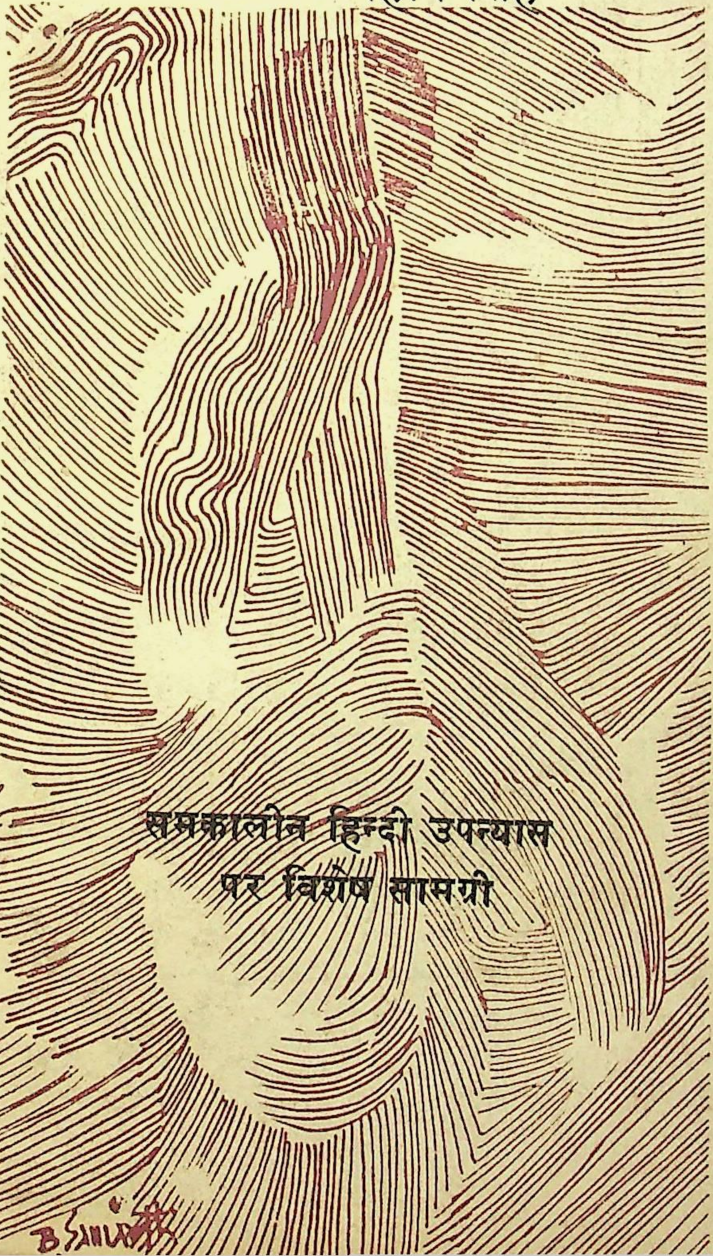
संचेतना

57

साहित्य : समीक्षा त्रैमासिक

संपादक : महीप सिंह




NOW AT
VASANT VIHAR
46 Community Centre,
New Delhi 110 057. Tel: 670450
Nirula's
FLAVOURITE FUN FOODS
Drop in and have a great time with our scrumptious treats.
From burgers to pizzas, pastries to ice creams, you'll love 'em all.
Nirula's
21
ICE CREAMS
21 A variety of derful ice creams, shakes, sodas and sundaes.
Nirula's
Hot Shoppe
Hamburgers, Pizzas, Hot dogs. All hot off the line.
Nirula's
POTPOURRI
Our coffee shop with a 'fresh-outdoor', informal atmosphere.
CHINESE ROOM
Soft lights, great service, and a taste you'll remember. While the laughing Buddha presides!
THE PASTRY SHOP
A delicious selection of pastries, cakes and confectionery.
Nirula's
Where it's fun to be hungry.
Nirula's Corner House Pvt. Ltd.
L-Block, Connaught Place New Delhi 110 001.
ed/80/No/50

संचेतना

साहित्य : समीक्षा का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष-१५, अंक १, मार्च १९८१ (प्रकाशित जून १९८१) पूर्णांक : ५७

संपादक
महीप सिंह

प्रबंध संपादक
जयदीप सिंह

•

एक प्रति : तीन रुपये
वार्षिक : पंद्रह रुपये
(विशेषांक सहित)
तीन वर्ष : चालीस रुपये
आजीवन (संस्थाओं के लिए)
ढाई सौ रुपये
आजीवन (व्यक्तिगत): सौ रुपये
विद्यार्थियों / अध्येताओं के लिए
वार्षिक : दस रुपये
तीन वर्ष : पच्चीस रुपये

विदेशों के लिए
(समुद्री डाक से)
वार्षिक : पचास रुपये
(हवाई डाक से)
वार्षिक : सौ रुपये
आजीवन : पांच सौ रुपये

•

एच-१०८, शिवाजी पार्क,
नयी दिल्ली-११००२६
फोन : ५९१२८७

इस अंक में

संचेतना के एक हजार आजीवन सदस्य बनाने की योजना

संचेतना के अंक ५३ में हमने एक अपील प्रकाशित की थी और अपने सभी सहृदय मित्रों/सहयोगियों/पाठकों से आग्रह किया था कि वे संचेतना के १००० आजीवन सदस्य बनाने की हमारी योजना में सहयोग करें। इस नितांत साहित्यिक अभियान को केवल यही बात बचा सकती है।

आप हमारे इस अभियान में हमारी सहायता करें—

- आजीवन सदस्यों को हम संचेतना के पूर्व प्रकाशित उपलब्ध अंक निःशुल्क भेंट कर सकेंगे।
- **माडर्न हिन्दी शार्ट स्टोरी** (सजिल्द मूल्य ४५-०० रु०), **विचार कविता की भूमिका** (सजिल्द मूल्य २०-०० रु०), **समकालीन हिन्दी उपन्यास** (सजिल्द मूल्य ४०-०० रु०) में से कोई एक पुस्तक, जिसे आप चाहें, उपहार स्वरूप आपको भेंट कर सकेंगे।
- यदि आपकी सदस्यता ग्रहण करने के पांच वर्ष से पूर्व किसी कारण हमें संचेतना का प्रकाशन स्थगित या बंद करना पड़ा तो **हम आपके पूरे सौ रुपये आपको वापस कर देंगे।**

इस घोर व्यावसायिक युग में एक साहित्यिक प्रयास को **जीवित रखने में अपना सहयोग दीजिए।**

संपादक

लब्ध प्रतिष्ठ : कथाकार मनु शर्मा की सात सशक्त कृतियां

- **द्रौपदी की आत्मकथा** — नवीन संस्करण मू० ७.००
- **द्रोण की आत्मकथा** — नवीन संस्करण मू० १५.००
- **कर्ण की आत्मकथा** — नवीन संस्करण मू० २०.००

महाभारत की भित्ति पर रचित ये आत्मकथाएं आधुनिक संदर्भों का स्पर्श करती हुई अपनी प्रासंगिकता बनाये रखती हैं और विश्वास दिलाती हैं कि इतिहास स्वयं को बार-बार दुहराता है, केवल चरित्र बदलते रहते हैं। भाषा शैली में एक ऐसा प्रवाह है कि आप बड़े सहज भाव से उसमें बहते चले जायेंगे।

- **के बोले मां तुमी अबले** — मू० ३.००

राष्ट्रीय चेतना के अग्रदूत तथा कालजयी कथा-शिल्पी बंकिम बाबू की पुनीत स्मृति को समर्पित यह लघु उपन्यास अपने संक्षिप्त और भावुक कलेवर में एक क्रान्तिकारी परिवार की दो पीढ़ियों की प्रभावी भूमिका समेटे है।

- **एक लिंग का दीवान** — नवीन संस्करण मू० १५.००

बाप्पारावल के जीवन पर आधृत यह उपन्यास इतिहास के अनेक विस्मृत पृष्ठ खोलता है। उन पर पड़ी समय की धूल को झाड़-पोंछकर ऐसे जीवंत चरित्र उभारता है कि पाठक आदि से अंत तक उसमें उलझा रह जाता है।

- **अभिशप्त कथा** — मू० २०.००

आदि काल से महत्वाकांक्षा और यौन तृष्णा मनुष्य की नियति में उलटफेर करती रही है। आधुनिक जीवन संदर्भों का स्पर्श करती हुई 'कच देवयानी' की चिर पुरातन कथा पर आधृत अभूतपूर्व उपन्यास।

- **शिवाजी का आशीर्वाद** — (प्रकाश्य)

शिवाजी की औपन्यासिक जीवन गाथा जिसे आप पढ़ने लगेंगे तो शायद छोड़ेंगे नहीं।

प्रचारक बुक क्लब

पो० बा० १०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

अपनी विभिन्न पुस्तकमालाओं के अंतर्गत भिन्न-भिन्न विषयों पर स्तरीय पुस्तकें प्रकाशित करने में अपना सानी नहीं रखता। नेहरू बाल पुस्तकालय, राष्ट्रीय जीवन-चरित, भारत—देश और लोग, भारतीय लोक-संस्कृति और साहित्य आदि पुस्तकमालाओं के अतिरिक्त **आदान-प्रदान** एक ऐसी पुस्तकमाला है जिसमें सभी मुख्य भारतीय भाषाओं की चुनी हुई साहित्यिक पुस्तकों को अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित करके प्रकाशित किया जाता है।

आदान-प्रदान पुस्तकमाला के अंतर्गत कुछ महत्वपूर्ण हिंदी प्रकाशन इस प्रकार है :

मुक्ति (मूल कन्नड़) : शांतिनाथ देसाई, मूल्य 11.50; पंजाबी एकांकी (मूल पंजाबी) : अतरसिंह (संपा), मूल्य रु० 8.00; यात्रा का अंत (मूल तमिल): नील पद्मनाभन, मूल्य रु० 7.00; गुजराती कहानियां (मूल गुजराती : यशवंत शुक्ल तथा अनिरुद्ध ब्रह्मभट्ट (संपा०), मूल्य रु० 9.00; समकालीन मलयालम कहानियां (मूल मलयालम) : एम० मुकुंदन (संपा०), मूल्य रु० 8.75; जागरी (मूल बंगाली) : सतीनाथ भादुड़ी, मूल्य रु० 9.00; सूरजमुखी का सपना (मूल असमिया) : सैय्यद अब्दुल मलिक, मूल्य रु० 9.50; गृहभंग (मूल कन्नड़) : एस० एल० भैरप्पा, मूल्य रु० 1.525; हारा हुआ आदमी (मूल तेलुगु) : बलिवाड कांताराव, मूल्य रु० 13.25; नीलशैल (मूल ओड़िया) : सुरेंद्र महांति, मूल्य रु० 8.25

अपनी ओर से

पुस्तक व्यवसाय :
सांस्कृतिक आचार से कुरूपतम भ्रष्टाचार तक

हमारे देश का पुस्तक प्रकाशन और विक्रय व्यवसाय, विशेष रूप से हिंदी का, निरंतर किस दिशा की ओर अग्रसित हो रहा है, क्या इस पर कभी ठहरकर विचार किया गया है ? लेखक, प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता तथा विशाल पाठक वर्ग इस व्यवसाय से जुड़े हुए हैं। देश में पुस्तकों का प्रसार हो, लोगों में पढ़ने की रुचि जागृत हो, लोगों की सांस्कृतिक सूझ पैनी हो, उनके मानसिक क्षितिज का विस्तार हो, ऐसी अनेक बातें इस व्यवसाय से संबंधित अनेक चर्चाओं और विवादों में कही जाती हैं। परंतु यह व्यवसाय जैसा स्वरूप ग्रहण कर गया है और करता जा रहा है, उससे क्या ऐसे किसी अपेक्षा की पूर्ति हो सकती है ?

समाज में जो कुछ अनीतिपूर्ण, अस्वास्थ्यकर है, समय से पिछड़ चुका है और प्रगति में बाधक हो रहा है, उसे एक जागरुक लेखक उद्घाटित करता है। अपनी रचनाओं के माध्यम से एक समर्थ लेखक उन स्थलों और स्थितियों पर उंगली रखता है जिनसे अन्याय और शोषण को बढ़ावा मिलता है और समाज में भ्रष्ट नीतियाँ पनपती हैं। अच्छा लेखक व्यक्ति में उसकी अपनी और अपने परिवेश की गहरी समझ पैदा करता है और समस्याओं के प्रति उसे जागरुक बनाता है। लेखक के ये सभी मन्तव्य उसकी रचनाओं के रूपाकार होते हैं और रचनाएं पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर विशाल पाठक वर्ग तक अपनी बात को ले जाती हैं। यहीं से एक नयी विडंबना जन्म लेती है।

व्यक्ति और समाज की मानसिक समृद्धि के लिए रचित साहित्य पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर अन्याय, शोषण और गर्हित भ्रष्टाचार की उन नालियों में से बहने लगता है जिनके विरोध में उसका जन्म होता है। जो रचना इसलिए जन्म लेती है कि वह सामाजिक जीवन की कुत्सित स्थितियों को उजागर करे वही रचना पुस्तक का आकार ग्रहण कर अपनी बिक्री के लिए उसी भ्रष्ट और कुत्सित स्थिति का शिकार बन जाती है। विभिन्न राज्य सरकारों, सरकारी केंद्रों और पुस्तकालयों में पुस्तकें, किस तरह खपाई जा रही हैं यदि इसकी जांच की जाए तो ऐसे तथ्य प्रकाश में आएंगे जो किसी भी व्यक्ति को दहशत में डाल देंगे।

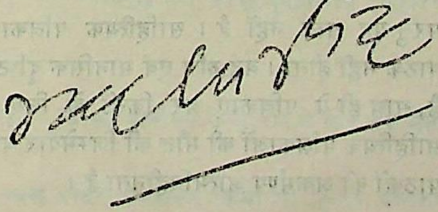
हिंदी का पुस्तक व्यवसाय मुख्य रूप से थोक खरीद पर टिका हुआ है। प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता एक कंधे पर पुस्तकों का और दूसरे कंधे पर नोटों

का थैला लटकाए हुए उन केन्द्रों पर घूमते रहते हैं जहां से उन्हें 'बल्क आर्डर' की आशा होती है। उसमें नीचे से ऊपर तक रिश्वत का दौर चलता है। प्रायः थोक खरीद करने वाली सरकारी-अर्द्ध सरकारी संस्थाएं १५ से २५ प्रतिशत तक की छूट लेती हैं मेज के ऊपर से और मेज़ के नीचे से लगभग इतनी (या इससे भी अधिक) रिश्वत दी जाती है।

इस भ्रष्टाचार का इस समय सबसे बड़ा केंद्र भोपाल है। पुस्तकों की थोक खरीद के नाम पर पिछले कुछ वर्षों में वहां जो कुछ हुआ है और हो रहा है संचेतना इस स्तंभ में उसकी चर्चा कर चुकी है। हमारे पास अगणित पाठकों के पत्र भी आए हैं जिन्होंने मध्य प्रदेश सरकार की इन 'असांस्कृतिक' नीतियों के प्रति अपना गहरा क्षोभ व्यक्त किया है। पिछले दिनों पुस्तकों की खरीद को लेकर भ्रष्टाचार का जो नंगा नाच वहां खेला गया वह सिर्फ चौंकाने वाला ही नहीं है, हमारी सांस्कृतिक चेतना को लज्जित करने वाला भी है। इन भ्रष्ट स्थितियों से भरपूर व्यावसायिक लाभ लेने के आतुर प्रकाशक और उनके प्रतिनिधि नोटों की गड्डियां ले लेकर भोपाल पहुंचे हुए थे और सरेआम रिश्वत दे देकर अपने लिए अधिक से अधिक आर्डर प्राप्त कर रहे थे। सर्वाधिक क्षोभ की बात यह है कि इस गर्हित कार्य में दलाली करने में संलग्न वे अनेक लेखक भी थे जो अपनी लेखकीय प्रतिष्ठा का ढिंढोरा पीटते नहीं थकते।

यहीं मुझे एक बात याद आती है। श्री गुलजारीलाल नंदा उन दिनों केंद्रीय सरकार में गृहमंत्री थे। उन्होंने ऐलान किया कि वे दो वर्ष में देश का भ्रष्टाचार समाप्त कर देंगे। उनकी कोठी पर प्रतिदिन उन व्यक्तियों की भीड़ जमा होने लगी जो भ्रष्टाचार की शिकायतें गृहमंत्री से करना चाहते थे। एक दिन एक सज्जन सुबह-सुबह उनकी कोठी पर पहुंचे। वे नंदा जी से किसी भ्रष्ट अधिकारी की शिकायत करना चाहते थे। पहले से ही वहां शिकायत करने वालों की लंबी कतार खड़ी थी। उन सज्जन के लिए कतार में खड़ा होकर अपने क्रम की प्रतीक्षा करना बहुत मुश्किल था। उन्होंने कतार में काफी आगे खड़े एक व्यक्ति को पचास रुपये रिश्वत देकर उसकी जगह प्राप्त कर ली।

यही विडंबना, यही मजाक आज पुस्तक व्यवसाय के साथ जुड़ गया है। और हम खुश हो रहे हैं कि हमारी बात लाखों पाठकों तक पहुंच रही है।



प्रतिक्रियाएं

श्रेष्ठ पत्रिकाओं के हंता

अभी कुछ समय दिन पहले 'नया प्रतीक' का 'विदा अंक' आया है। मन भारी हो गया। हालांकि इसका कोई कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकाएं बन्द होने के लिए ही प्रकाशित होती हैं—यह एक स्थापित सत्य है। फिर भी, जब भी किसी श्रेष्ठ पत्रिका का प्रकाशन स्थगित होता है, मन को एक चोट लगती है—यूंहीं, संस्कारवश।

हिन्दी भाषी प्रदेशों के महाविद्यालयों एव विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की विशाल संख्या है। उनके पेशे को देखते हुए समकालीन साहित्य के प्रति उनसे सजगता की अपेक्षा रखना सर्वथा स्वाभाविक है। हिन्दी के अध्यापकों की यह विशाल संख्या अगर चाहे तो श्रेष्ठ साहित्य की स्तरीय पत्रिकाओं के अकाल काल कवलित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठे। परन्तु, इस वर्ग के लोग बहुत बड़ी संख्या में अपने पेशे के प्रति गैर जिम्मेदार और भाषा तथा साहित्य के प्रति स्वाभिमान विहीन हैं, जो किसी साहित्य या भाषा के विकास की मूल शक्ति है। हिन्दी के औसत अध्यापक का अध्ययन लज्जा की सीमाओं तक है। जो लोग उम्र को अपना आयुध मान चुके हैं वे भीष्म का नाटक करते हुए अपनी जीभ चुभोई हुई सुई की बाजीगरी को वाणों की शय्या प्रमाणित करने में ही जमीन-आसमान एक किए रहते हैं।

आज से कुछ वर्ष पूर्व इन व्यर्थजीवी विद्वानों की अध्ययन, रुचि पर 'इंडियन एक्सप्रेस' में एक सर्वेक्षण प्रकाशित हुआ था, जिसमें महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की संख्या ने नमक, तेल, लकड़ी तथा कक्षाओं के लिए अभिस्तुत ग्रंथों तक अपनी रुचि की सीमा का गौरवपूर्ण रेखांकन किया था।

कुछ लोगों ने हिन्दी-साहित्यिक पत्रिकाओं की असमय मृत्यु का कारण सामान्य पाठकों की रुचि-विकृति में ढूंढ़ने का प्रयास करते हुए बुकस्टालों पर बढ़ती सेक्स एवं अपराध-प्रधान पत्रिकाओं को भीड़ की ओर संकेत किया है, परंतु यह सत्य नहीं है। साहित्यिक पत्रिकाओं का पाठक निस्संदेह भीड़ का पाठक नहीं होता। वह रुचि एवं मानसिक दृष्टि से अपेक्षया विशिष्ट पाठक होता है, साथ ही ये पत्रिकाएं हर किसी के लिए प्रकाशित नहीं होतीं। दरअसल साहित्यिक पत्रिकाओं की मौत की जिम्मेदार बाजारू पत्रिकाएं नहीं, उसके सही पाठकों की अकर्मण्य आत्मविहीनता है।

आज आवश्यकता यह है कि इस प्रकार के अपने लोगों के भीतर अपने कर्त्तव्य के प्रति गौरव तथा स्वाभिमान की भावना जाग्रत की जाए तथा इनकी जड़ता को बार-बार झकझोरा जाए; उनके सामने चुनौती उपस्थित की जाए, अन्यथा ये स्नेही पाठक हिन्दी की हर श्रेष्ठ पत्रिका की नौका के संतुलन के लिए जड़ चुनौती बने रहेंगे।

डा० मदन मोहन तरुण-हिन्दी विभाग
नेशनल डिफेन्स अकादमी खड़गवासला (पूना)

स्वस्थ अलोचकीय दृष्टि

संचेतना ५५—अपने परंपरित अंकों की तरह साहित्यिक पत्रिका की सार्थक एवं ईमानदार भूमिका निभाने में काफी सक्षम है। कुलदीप बग्गा और श्रवण-कुमार गोस्वामी के उपन्यास क्रमशः 'छोटा खुदा' और 'जंगलतंत्रम' पर डा० रामविनोद सिंह की आलोचकीय दृष्टि स्वस्थ मनोवृत्ति एवं स्वस्थ चिंतन की परिचायिका है।

अपनी ओर से संपादकीय में आपने जो 'हिन्दी का विशाल पाठक वर्ग और साहित्यिक पत्रिकाओं की व्यापक मृत्यु'—का सवाल उठाया है, वह काफी 'जेनुइन' है। घोर आश्चर्य होता है कि हिन्दी की श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकायें पाठकों के समर्थन के अभाव में, आर्थिक संकट की मार को एक सीमा के बाद न झेल सकने के कारण बंद हो गयीं। उतना विशाल और व्यापक हिन्दी संसार उनकी मौत पर मौन धारण किये रहा और अब भी साहित्यिक मूल्यों के प्रति समर्पित शेष दो-चार पत्रिकाओं की मरणासन्न स्थिति देखकर भी चुप्प है। यह चुप्पी वर्तमान स्थिति में खेदजनक तो है ही भविष्य के लिए भयानक भी है। समझ में नहीं आता कि हिन्दी पाठकों, विद्वानों, साहित्यकर्मी, साहित्य प्रेमी और साहित्य भोगी व्यक्तियों को आखिर क्या हो गया है?

आपके द्वारा उठाये गये साहित्यिक पत्रिकाओं की अस्तित्व रक्षा की लड़ाई पर गंभीरता से विचार किये जाने और उस पर तत्काल अमल किये जाने की सख्त जरूरत है।

जितेन्द्र वत्स, नेकरा, सासाराम (बिहार)

दोष किसे दिया जाए?

संचेतना (५५) का अंक मिला।...काफी बारीकी से आरंभ से अंत तक मैंने पढ़ा है।

मुझे आपके 'संपादकीय' ने सबसे अधिक प्रभावित किया जो हिन्दी पाठकों

का साहित्यिकता से दुराव (विमुख) प्रकृति पर गहरा क्षोभ व्यक्त करता है।

वास्तव में आज हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं का भविष्य चिंतनीय है। आज से आठ-दस साल पहले 'माया' एक विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी जिसमें उच्च-कोटि की कहानियां, प्रसिद्ध लेखकों की जीवनियां, संस्मरण, रोचक घटनाएं व उनकी भ्रमण यात्रा आदि छपती थीं। पर जब इसे साहित्यिक परिवेश से हटाकर राजनैतिक परिवेश में लाया गया तो इसकी खपत पहले की अपेक्षा एक डेढ़ लाख से भी अधिक हो गयी।

दोष किसे दिया जाय—उन पत्रिकाओं को जो हिन्दी पाठकों की प्रवृति को साहित्यिकता से दूर ले गयीं या इन पाठकों की जो राजनैतिक अपराध, ठगी, सच्चे किस्से व सस्ती मनोरंजन की पत्रिकाओं को पढ़कर इन्हें बढ़ावा देते हैं, साथ ही अपनी संकीर्ण मानसिकता का सबूत पेश करते हैं।

आपने अपने संपादकीय में दो और सत्य उद्‌घाटित किये हैं कि किसी बड़े सरकारी पद पर कोई लेखकनुमा व्यक्ति आता भी है तो स्वयं को स्वार्थ में लिप्त होने की प्रवृत्ति से बचा नहीं पाता, दूसरी—शेष विद्वान, साहित्यकर्मी, साहित्य प्रेमी और साहित्य भोगी व्यक्ति, साहित्यिक पत्रिकाओं को निकालने वाले व्यक्तियों को सिर्फ शाबासी देकर मौखिक सहानुभूति ही जताते रहते हैं।

साहित्यिक पत्रिकाओं को जीवित रखना अत्यंत आवश्यक है। जीवित रखने के लिए मौखिक शाबासी, सहानुभूति की आवश्यकता नहीं बल्कि हिन्दी साहित्य प्रेमियों का समर्थन तथा सरकारी संरक्षण की आवश्यकता है।

संचेतना एक उच्चकोटि की, बुद्धिजीवियों की साहित्यिक पत्रिका है जिसका प्रत्येक अंक साहित्य का एक नया आयाम प्रस्तुत करता है। अतः आपसे आग्रह है, इसे द्विमासिक में परिणत करें। एक साल में महज चार अंक अर्थात आठ कहानियां, बस…। द्विमासिक होने से बारह कहानियां मिलेंगी।

आप कहानियों का सही चुनाव करते हैं। कुसुम अंसल की 'अपनी-अपनी यात्राएं' एवं सरोज वशिष्ठ की 'तराशा हुआ झूठ', दोनों भावनात्मक मार्मिक व सशक्त है। वे जीवन के एक पहलू को स्पर्श करती मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा जहां दो प्रेमियों के दिल में उपज रही भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व से साक्षात्कार कराती है (अपनी-अपनी यात्रा), वहां, झूठ होते हुए भी स्वाभाविकता की आगोश में झूठ नहीं मालूम पड़ने देती, जैसे यह होनी ही थी। और यही विशिष्टता है कहानी लेखिका सरोज जी की (तराशा हुआ झूठ)।

बिन्देश्वर प्रसाद गुप्ता, सचिव भारतीय युवा साहित्यकार परिषद करबिगहिया, पटना-१ (बिहार)

सुनो शेफाली : एक सामयिक नाटक

सुरेन्द्र कुमार तिवारी

इधर के कुछ वर्षों में हिन्दी के कई चर्चित और जागरूक लेखक नाट्य-लेखन तथा रंगमंच से सक्रियता से जुड़े हैं जिस कारण हिन्दी नाटकों के स्वरूप में भी काफी परिवर्तन नजर आने लगा है। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों की विसंगतियों का खुला चित्रण भी आज के नाटकों में होने लगा है। कुसुम कुमार का नाटक 'सुनो शेफाली' भी इसी प्रकार का नाटक है जिसमें आज की ज्वलन्त समस्या 'अस्पृश्यता' को नये संदर्भों में उठाया गया है।

गत १२ से १५ मई तक गुलशन कुमार के निर्देशन में 'सुनो शेफाली' का मंचन श्रीरामसेंटर में हुआ। यों तो नाटक के कथा में कोई नवीनता नहीं है, पर नये संदर्भों में पुरानी स्थितियों का आकलन दर्शकों को सुखकर प्रतीत हो सकता है। अछूतोद्धार के नाम पर किस तरह सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में चालें चली जाती हैं यही दिखाना इस नाटक का उद्देश्य रहा है।

शेफाली एक हरिजन लड़की है, पर वह आत्मसम्मान से पूर्ण है। सिर्फ हरिजन होने के नाते उसे जो सुविधाएं प्राप्त होती हैं, उन्हें वह लेने को कदापि तैयार नहीं, क्योंकि इसे वह अपना अपमान समझती है। स्कूल हो या घर, हर जगह वह एक-सा स्वाभिमान रखती है। उसे हरिजन कहलाने से ही चिढ़ है। बड़ी होकर शिक्षित सुरुचिपूर्ण शेफाली एक सवर्ण युवक बकुल से प्रेम करती है। बकुल भी उससे शादी करना चाहता है, पर होनेवाले चुनाव से पहले, ताकि उसके राजनीतिज्ञ पिता 'समाज-सेवक', 'समाज सुधारक' आदि कहलाने का दावा कर सकें और वोट एकत्र कर सकें। पर स्वाभिमानिनी शेफाली यह सब समझकर शादी से इनकार कर देती है।

निर्देशक गुलशन कुमार ने अपनी कल्पनाशक्ति से नाटक को असरदार बनाने की भरपूर कोशिश की है, पर अपने सीमित साधनों और अच्छे कलाकारों के अभाव के कारण वे पूरी तरह सफल नहीं हो पाए हैं। कलाकारों में अमिता मिश्रा (शेफाली), ज्योतिषाचार्य (गुलशन कुमार) और सत्यमेव दीक्षित (आलोक बैनर्जी) के अतिरिक्त सभी कलाकार बहुत ही साधारण रहे। यहां तक कि बकुल की भूमिका में सोमनाथ पवार को देखकर लगा कि जैसे संवादों को रटकर

बोल देने के सिवा उन्होंने अभिनय के नाम पर कुछ नहीं जाना है। यही नहीं, अमिता मिश्रा के साथ अपनी उम्र और कद के कारण वे प्रेमी कम, छोटा भाई ज्यादा नजर आते हैं। नाटक के एक मुख्य पात्र के चयन में यह कमजोरी बहुत खलती है।

गुलशन कुमार ने स्थितियों के अनुरूप दृश्यों को संजोने की चेष्टा की है और इसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली है। विदेशी फोटोग्राफर (अजय गुप्ता) के साथ कीर्तनियों का प्रसंग जितना व्यंग्यात्मक है, उतना ही सजीव भी। ज्योतिषी और बालक गेरू (स्नेहिल) के बीच के आत्मीय वार्तालाप भी दर्शकों को गुदगुदाते हैं। वैसे गेरू की जो कल्पना नाटककार ने की है, निर्देशक उसके अनुरूप पात्र चयन नहीं कर पाया।

'सुनो शेफाली' का अन्य तकनीकी पक्ष कोई खास प्रभावपूर्ण नहीं है। नाटक में संगीत की कहीं जरूरत है ही नहीं और इस कारण संगीत पर ध्यान भी नहीं दिया गया है। प्रकाश-योजना काफी कमजोर है और इसका कारण यही है कि नये लोगों के जिम्मे यह काम सौंपा गया है। घाट पर नीली रोशनी करके पानी का आभास दिया गया है, पर रोशनी इतनी सपाट है कि मात्र दीवारों पर चमक बनकर रह जाती है। हां, घाट की मंच-व्यवस्था आकर्षक है।

नाटक का अंत अवश्य कुछ प्रश्न छोड़ जाता है। क्या यह जरूरी है कि शोषक वर्ग किसी न किसी तरह विजयी ही बने? शेफाली न मिले तो उसकी बहन किरण (मंजू) से ही बकुल शादी करके अपने पिता की स्वार्थ सिद्धि करे? फिर शेफाली के तमाम विद्रोह और त्याग का परिणाम क्या निकला? माना कि समर्थ वर्ग और राजनीति इतनी घातक है कि वह आदमी को किसी न किसी तरह तोड़ ही देती है और अपने स्वार्थों की सिद्धि कर ही लेती है, पर बदलती स्थितियों में इसका दूसरा रूप भी तो उभर रहा है? फिर नाटककार का ध्यान उधर क्यों नहीं गया? और शायद 'सुनो शेफाली' की तमाम सफलताएं इसी बिन्दु पर आकर प्रश्नचिह्न बन जाती हैं।

१/१०१०१-बी-४, पश्चिमी गोरख पार्क
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

आज का नारी लेखन : स्थिति एवं परिणति

राजी सेठ

सिद्धांत के स्तर पर यद्यपि यह बात बहुत प्रीतिकर नहीं लगती कि लेखन के क्षेत्र में लेखकों या लेखिकाओं में भेद किया जाय, क्योंकि सृजन जिस प्रकार की मानसिक सक्रियता का परिणाम है, वह दोनों में एक-सी है और वह सृजन-परिणाम भी रचना में निहित अर्थवत्ता के अनुपात से नापा जाता है, जातिगत विशिष्टताओं से नहीं। फिर भी भेद का प्रश्न यदि उठता है तो मुख्यतः रचनात्मक प्रतिभा की मूल प्रकृति को जानने के लिए उठता है, जो अपनी क्रियाशीलता में उन दोनों के लेखन में प्रायः किन्हीं तत्वों की भिन्नता के रूप में प्रगट होती है, जैसे कथ्य का चुनाव, किन्हीं चीजों के प्रति भिन्न प्रकार की एकाग्रता या उदासीनता, कुछ पूर्वाग्रह, चिन्ताएं और सरोकार। इसका तात्कालिक संबंध अपने-अपने अनुभववृत्तों से जुड़ाव तो है ही, परंतु इसका मुख्य और महत्त्वपूर्ण आधार एक सामाजिक सांस्कृतिक वितान में उन दोनों का ऐसे स्थल पर स्थित होना, जहां से परिवेश की प्राथमिकताएं भिन्न-भिन्न, दबाव और तनाव के केन्द्र अलग-अलग, स्वीकृति के स्थल और संस्कार अलग, अधिकारों-कर्तव्यों का विधान अलग, परिणाम में व्यक्तित्व की बुनावट अलग-अलग और अंततः तो जहां पहुंचना है उसका संघर्ष भी जुदा-जुदा। पुरुष स्वीकृत है, स्त्री स्वीकृति के लिए लड़ रही है।

यहां उद्देश्य, दोनों के बीच के भेद के बिंदुओं का विस्तार करके करुणा की बांटतौल करना नहीं परंतु व्यक्तित्व के उन घटकों की ओर इंगित करना है जो दोनों में जीवन को देखने और समझने के रवैये भिन्न कर देते हैं, और उसी अनुपात में लेखन के भेद को भी रेखांकित करते हैं। यहीं से, इसी बिंदु से, उस भेद को समझा जा सकता है जो स्त्री-लेखन और पुरुष-लेखन के मूल में है।

ड्राइंग की कक्षा में मॉडल के रूप में सामने मेज़ पर रखे हुए एक ही गमले को हर विद्यार्थी अपने दृष्टिकोण से देखते होने की स्वतंत्रता रखता है, उससे यही अपेक्षा भी की जाती है। गमले की निरपेक्ष वस्तुगतता का उसके लिए अर्थ नहीं है क्योंकि उसे उस वस्तु के यथार्थ से अपने संपर्क के बिंदु का अंकन करना है, दूसरे के बिंदु का नहीं। फिर जीवन तो बहुत बड़ा कैनवास है और यथार्थ का प्रकाशन एक जटिल प्रक्रिया, उसे मात्र अपने दृष्टिकोण से जीवन को जांचने की अनिवार्यता कह देना उसका सरलीकरण कर देना होगा, वस्तुतः अभिव्यक्ति के उस विधान में स्त्री की पूरी बुनावट, उसके जातिगत संस्कार, जीवन से उसका

संपर्क बिंदु सब कुछ आ जाता है। वह बिंदु उसका ही हो सकता है, दूसरे का नहीं।

नारी-लेखन पर यह आरोप कि यह संभावनापूर्ण नहीं है, सीमित यथार्थ को लेकर चलता है, या चारदीवारियों के बीच ही घुमड़ता रहता है, उसे और उसके यथार्थ को लेकर गहरे प्रश्न उपस्थित करता है। यह बात काफी हद तक सच है कि उसका यथार्थ सीमित है तो भी यही यथार्थ उसका अपना है, यही उसके अस्तित्व की सामाजिक सांस्कृतिक सचाई है। विकास का नियम अपनी जड़ों को छोड़कर नहीं चलता। एक पौधा भी भोजन के लिए अपनी ही जमीन को वापिस जाता है और वहीं से पनपने का आधार पाता है। देखना यह है कि कहीं वह उसी जमीन में ठहर तो नहीं जाता, जहां वह मात्र बीज या अंकुर रूप है। यहां महत्व है तो इस बात का कि क्या स्त्री अपनी ज़मीन में ही डूब तो नहीं जाती? क्या उसका लेखन उसके अपने अस्तित्व और परिवेश से आगे की यात्रा करता दीखता है? या वह अपनी परिस्थितियों का अपनी योग्यता द्वारा अतिक्रमण कर पा रही है?

यहां एक और बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अतिक्रमण का अर्थ अपने अनुभव संदर्भ से कूदकर किसी दूसरे के अनुभव-संदर्भ में जा सकना नहीं, बल्कि अपने अनुभव के केन्द्र से अर्थ का आकाश पहचानने की चेतना है अतिक्रमण स्थिति आनुभविक, आंतरिक और सोच के बड़े पैमानों को खोलने वाली होती है। उपस्थित संदर्भ में, स्त्री की चुनौती अपने समीकरण को छोड़कर पुरुष के समीकरण को पाना नहीं बल्कि अपने सत्य में से बृहत सत्य की परिधि तक जाना है। यह पाना सदा अपनी जमीन, अपने परिवेश और अपने अनुभव यथार्थ में से ही हो सकता है। आखिर पुरुष भी तो अपने ही केन्द्र से, अपने परिवेश के एहसास के साथ अपनी लेखन-यात्रा में प्रवृत्त होता है। वह भी तो इस संसार की लगभग आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाले नारी-तत्व के सत्य से नहीं जूझता। पता नहीं क्यों, यह तथ्य आज तक किसीको चौंकाने वाला नहीं लगा।

मूल प्रश्न तो लेखन के बीच के सीमित यथार्थ का न होकर के स्त्री के अपने संसार, अपने परिवेश, अपनी स्थिति का है कि आखिर वह इतनी सीमित क्यों है और उतनी समाजोन्मुखी क्यों नहीं। कहना न होगा कि इस प्रश्न के उत्तर के लिए सामाजिक न्याय का जायजा लेना होगा। क्या किसी भी स्त्री को आज तक पूरी शिद्दत और इन्वाल्वमेंट से यह लग पाया है कि इस संसार के दुख-दर्द (राजनैतिक हों या आर्थिक) उपचार-समाधान, स्थिति या गति के लिए वह किसी रूप में किसी स्थल पर, किसी भी कारण से उत्तरदायी है। उसके कुछ करने या न करने से किसी भी महत्वपूर्ण क्षेत्र (घर को छोड़कर) या स्तर पर—

राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय—कुछ विशेष फर्क पड़ता है। ऐसे किसी भी उत्तरदायित्व या अधिकार का न लग पाना, ऐसी अ-निजी उदासीनता में युगों से बने होने का क्या उसकी मानसिकता फलत: उसके लेखन से कोई संबंध नहीं है? क्या यह सब स्थितियां उसके जीवन की मूल चिंताओं, प्रेरणाओं और घटकों के रंग-रूप को प्रकाशित नहीं करतीं। तिस पर ऐसा होते होने के पीछे कोई इक्का-दुक्का कारण न होकर उसकी परंपरा का एक पूरा इतिहास है…सामूहिक और क्रियाशील। कहना न होगा, यह प्रश्न सामाजिक है साहित्यिक नहीं। साहित्यिक पक्ष तो मात्र परिणाम है।

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में इस स्थिति में कुछ अंतर अवश्य आया है फिर भी अभी एक स्वतंत्र, जिज्ञासु, आत्मविश्वास से भरी पूर्ण स्त्री की तस्वीर न उभर कर एक ऐसी संघर्षशील नारी की तस्वीर उभरती है जिसके घरेलू दायित्व वहीं के वहीं हैं (उसकी शक्ति का अधिकतम उपयोग करने वाले) और स्वतंत्रता चाहने के लिए जिसने एक 'बड़ा बाहर' अपने सर पर ओढ़ लिया है। इस दोहरे श्रम की थकान और टूटन को साथ लिए वह अपने इतिहास और अपने भविष्य के बीच एक आशाशील वर्तमान रचने के लिए उत्सुक सतत जूझ रही है। यह सच है कि उसका मुंह प्रकाश आने वाली खिड़की की तरफ है, परंतु उसके पैर अभी भी दलदल से लड़ रहे हैं।

यह स्थिति कितनी हास्यास्पद है कि समाज एक जातिगत स्तर पर जिन चीजों को जीने का अधिकार नहीं देता लेखन के—(वह भी ऐसा लेखन जो पिछले कुछ वर्षों के संघर्ष और अस्मिता की अनिवार्यता के एहसास की यातना में से पाया और रक्त की तरह निचोड़ा गया है) क्षेत्र में स्त्री से उसके अंकन या चित्रण की अपेक्षा करता है—जैसे बड़े दायरे, राजनैतिक चेतना, आर्थिक द्वन्द्वों की भीतरी समझ, नैतिक प्रश्नों की उदार नई व्याख्याएं, समानता-स्वतंत्रता के प्रश्न(विरोधाभास देखिए)और विद्रोह कर सकने और समाज को बदल सकने के क्रांतिधर्मी स्वप्न। इनमें से यदि एक-एक मुद्दे को केन्द्र में रखकर स्त्री की वास्तविक सामाजिक स्थिति से उसके वैपरीत्य पर विचार किया जाए तो काफी यातना देने वाले तथ्य हाथ लगेंगे और अस्मिता के लिए लड़ती जाति के संघर्ष का बड़ा करुण समाज-शस्त्र तैयार किया जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त यह भी कितना बड़ा विरोधाभास है कि एक ओर अनुभव की प्रामाणिकता और यथार्थ के ईमानदार आकलन के नारे लगाए जाएं और दूसरी तरफ जिस तरह का यथार्थ हाथ में हो, जैसा अनुभव प्रामाणिक हो, उसे सीमित कहकर अस्वीकार कर दिया जाए और जमीन से टूटी हुई अपेक्षाओं का एक खोखला शोर हवा में बांध दिया जाए।

अभी तो जो लिखा जा रहा है वही प्रमाणिक है…क्या उसमें दासता की

पूरी घुटन···वही छटपटाहट···वही मर्यादाओं को ललकारे जाने की कसमसाहट, वही आंतरिक टूटन···उसी छोटेपन में पिसते होने का दर्द, वही करवट लेते हुए अस्तित्व की अस्मिता के प्रश्न प्रतिबिंबित नहीं होते जो स्त्री के अस्तित्व को वास्तविकता में घेरे हुए हैं। वास्तविकता की जैसी ज़मीन पैरों के नीचे है, जैसा जल है, जैसे बीज हैं उनमें से ऊपर लिखे प्रश्नों और चिंताओं के पौधे नहीं उगाए जा सकते यह तय है। वस्तुतः वह अभी अपने जीवन-अनुभव से सटकर चल रही है। पुरुष का लेखन भी जब उसके अपने जीवन से बहुत सटकर चलता है तो उसके भीतर का स्वप्नदृष्टा परिवर्तनकामी विजनरी भी उस वास्तविकता की चपेट में आ जाता है और वह साहित्य या समाज को मूल्यात्मक स्तर पर कुछ नहीं दे पाता। क्या उसका भी सारा लेखन पूरी तरह रेलेवेंट है और उन सब अपेक्षाओं को पूरा करता है जो उससे की जाती हैं ?

वास्तव में इस समय स्त्री का पहला संकट अपनी अस्मिता को पाने का संकट है और जहां या जितना यह एहसास हाथ आया भी है वहां भी अस्वीकृति के दंश और प्रमाणित करने की चुनौती के साथ। लेखन में सक्रिय स्त्री, चाहे सामाजिक स्तर पर पूरे स्त्रीत्व का प्रतिनिधित्व करती है, परंतु उपलब्धि के स्तर पर वह सामान्य नारी की अपेक्षा अपनी अस्मिता के एहसास के ज्यादा निकट है, अतः अपेक्षाकृत आत्मविश्वासी भी इस एहसास का समर्थन पाने की भूमिका तैयार करना उसके जीवन-संघर्ष का ही भाग नहीं, उसके लेखन-संघर्ष का भी भाग है।

साधारणतया अपनी अस्मिता के प्रति विश्वास और उससे उपजा हुआ चैतन्य, लेखन में आंतरिक ऊर्जा के रूप में काम आता है, जबकि स्त्री-लेखन की स्थिति अभी यह है कि उसके विश्वास की अपेक्षा उसकी घुटन और पीड़ा, साहित्य में उसकी वाणी का पर्याय बन रही है। संतोष इस बात का जरूर है कि अभिव्यक्ति का यह तेवर और छूट (जो कुछ वर्षों पहले स्त्री को उपलब्ध नहीं थी) किसी स्तर पर, उसकी पीड़ा-मुक्ति का साधन बनेगी। इसमें से गुजर चुकना अपने इतिहास-आलेखन की पीड़ा में से गुजर चुकना है।

सोचना यह है कि नारी-लेखन की इस प्रावस्था को पारंपरिक स्त्रीत्व से उबरने का आधिकारिक इतिहास-लेखन-काल क्यों न समझा जाए। क्यों उसे उन सब अनुभव-वृत्तों से टूटने के लिए ललकारा जाये जो उसके नितांत अपने और प्रामाणिक हैं, जिन्हें वह अच्छी तरह जानती-समझती भी है, जो एक तरह से उसकी मुक्ति-यात्रा के माइलस्टोन भी हैं। यात्रा का सारा रास्ता कोई कूदकर पार नहीं कर सकता, उसे चलकर ही पार करना पड़ता है, और यह कदम-कदम चलना निशान बना रहा है—परिवर्तन की प्रक्रिया में से गुजरते होने के।

समझ में नहीं आता कि निस्त्रीकरण पर, अस्वाभाविक रूप से इतना जोर क्यों दिया जाता है, जबकि वास्तविक जीवन में भी दोनों—स्त्री-पुरुष—की

भूमिका एकात्म होने की न होकर पूरक होने की है। स्त्री अपने लेखन में जिस सत्य को प्रकाशित करती है, वह पुरुष के सत्य का पूरक क्यों न माना जाये, और एक तस्वीर दोनों के अपने-अपने क्षेत्र में न बनकर, एक संपूर्ण की तरह दूसरे स्तर और स्थल पर क्यों न पहचानी जाये। क्यों एक का दूसरे की वास्तविकता के पक्ष में बदल जाना जरूरी समझा जाये या उसी पैमाने से उसे अच्छा-बुरा साबित किया जाये। किसी का भी ऐसा करना अपने वैशिष्ट्य को खो देना है।

प्रश्न उठ सकता है कि वस्तुओं और स्थितियों की आखिर एक अपनी भीतरी मूल्यवत्ता या वस्तुगतता भी तो कुछ होती है, वह संपूर्ण होती है और उसे उसी रूप में देखा जाना चाहिए। आंशिक या अपने हिस्से के सत्य की दृष्टि से देखने वाला रचनाकार वस्तुओं की पूर्णता और वस्तुगतता को कैसे माप सकता है। परंतु सच यह है कि स्थिति जो होती है, वही होती है, वस्तुएं जैसी होती हैं, वही वैसी रहती हैं जब तक हमारी चेतना किसी अर्थ द्वारा उसे चुनती या संदर्भ नहीं देती, या हमारा ज्ञान उन्हें प्रकाशित नहीं करता। वस्तुओं के ज्ञान में मुख्य है हमारी मानसिक प्रबुद्धता और संबंध समायोजन की आंतरिक क्षमता। उसका होना ही वस्तुओं को प्रकाशित करता है। किसी बिंदु पर पहुंचकर किसकी चेतना वस्तुओं के अर्थ को प्राणवान कर पाती है, उसकी पहचान जरूरी है क्योंकि यह स्थिति आत्मगत भी है और वस्तुगत भी। सर्जक की पहचान भी देती है, वस्तु की भी। सर्जक फिर चाहे स्त्री हो या पुरुष।

असल में देखना यह है कि किस तरह से स्त्री को वह सांस्कृतिक सामाजिक भूमि (जो पुरुष को युगों से उपलब्ध है) मिले, जिसमें अपने अस्तित्व और परिवेश से बड़े प्रश्न सोचे, समझे, पचाये जा सकें और कुछ वैसे ही सरोकार उसके लेखन में भी प्रतिबिंबित हो। मात्र दफ्तरों, दुकानों में काम करती हुई नारी स्वतंत्र नारी नहीं है, क्योंकि स्वतंत्रता का एहसास आंतरिक होता है। वह अपने प्रति विश्वास में से गुजरता हुआ दूसरों में अपना समर्थन और स्वीकार भी जगाता है। स्वतंत्रता का अधिकार व्यावसायिक दक्षता का पर्याय न होकर उपलब्धि के स्तर का होता है और अपनी मौलिकता में अतिरिक्त बौद्धिक सजगता और दायित्वबोध को प्रकाशित करता है। अपने मानसिक क्षितिज का विस्तार करने की प्रेरणा स्त्री स्वातंत्र्य की इच्छुक, स्त्री को भीतर से मिले, यह ज़रूरी है। यह ठीक है कि साहित्य में, अनुभव की प्रामाणिकता के आधार पर किया गया लेखन, साहित्य को एक प्रकार के छद्म से बचा लेता है, परंतु इस बात की आड़ में स्त्रियों का अपने बचाव की भूमिका ढूंढ़ने लगना बेईमानी तो है ही, आत्मघाती भी है।

बड़ा लिखने के लिए बड़ी जानकारी से जुड़ना जरूरी है। आत्मदया और आत्मपीड़न के तार पर साधा हुआ अपने पारंपरिक स्वरूप के प्रति आक्रोश एक

स्थिति के बाद निःसत्व हो जाता है। इस यातना को···कि इतिहास या परंपरा ने नारी को कुंठा के सिवा कुछ नहीं दिया—एक निषेधात्मक आक्रोश के रूप में अपने व्यक्तित्व पर झेलते रहने और साहित्य में दोहते रहने के आत्मपीड़क दबाव से जितनी जल्दी मुक्ति मिले अच्छा है। इस पीड़ा से उबरने के बाद ही एक तटस्थ, खुले, बौद्धिक सजगतापूर्ण रवैये का निर्माण हो सकता है जिसके तहत अपने आसपास की हर सामाजिक समस्या को अपने ही दायित्व के रूप में देखा जा सके; तभी यह भी हो सकता है कि अपनी पीड़ा-मुक्ति के लिए साहित्य को अस्त्र बनाने की ज़रूरत न पड़े।

स्वतंत्रता और अस्मिता की ज़रूरत को यदि मुख्य माना जायेगा तो स्वतंत्रता की पहली अनिवार्यता होगी आत्म-संपन्नता और दायित्वबोध। स्वतंत्रता जीवन में मिले या पन्नों पर उसका एहसास जगाया जाये---इसका एक यही अर्थ निकलता है। आत्म-संपन्न व्यक्ति अपना अधिकार स्वयं कमा लेता है और दायित्व के प्रति सजग होता है। बल्कि लेखन के क्षेत्र में आ जाने पर तो यह दायित्व दोहरा हो जाता है। समाज के प्रति तो होता ही है, अपने प्रति भी बढ़ जाता है, क्योंकि लेखक ही वह प्राणी है जिसमें समाज का उपभोग्य रचाया पकाया जाता है। किसी संत ने एक बार प्रार्थना की थी, "मेरा शरीर और मन तुम्हारा घर है प्रभु, इसलिए मैं उसे पवित्र रखना चाहता हूं," ऐसी आत्मलिप्तता लेखन में अतिआवश्यक है। जानकारी के बड़े क्षितिज से अपने को जोड़ना और आत्म-संपन्नता के प्रति जागृत होना ही लेखक की आत्मचिंता का स्वरूप है, और समाजोन्मुखता का भी। जहां तक नारी का प्रश्न है, उसके सामने भी (जब वह लेखन में आ ही गयी है) चुनौती का यही रूप है कि वह अपने को अधिक से अधिक बुद्धि-संपन्न और जानकार बनाये ताकि साहित्य में जो उसके द्वारा छने वह अर्थवान हो। स्त्री की चिंता आत्म-निर्भरता, आत्म-संपन्नता के लिए होनी चाहिए न कि सामाजिक स्थिति के अभिशाप को एक बचाव की तरह इस्तेमाल करके करुणा बटोरने की। कहना न होगा कि आत्म-निर्भर होने पर, सामाजिक स्तर पर उसकी भूमिका स्वतः बदल जाती है क्योंकि जो ढांचा उसके पराधीन होने की वास्तविकता पर खड़ा है वह स्वतः ढह जाता है और वह उन मर्यादाओं को अपने आप लांघ जाती है जो एक पराधीन मानसिकता के कारण पनपती रही है, यह अतिक्रमण ही बड़े एहसासों से जुड़ने की ज़मीन है और नारी लेखन के बेहतर भविष्य की भी।

१/१२, सर्वप्रिय विहार, नई-दिल्ली-११००१६

हरिजन समस्या : हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में

डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ

कुछ समय पहले राममनोहर लोहिया ने लिखा था कि आज वर्ण और योनि, इन दो कटघरों को तोड़ने से बड़ा कोई पुण्य नहीं है।[1] वर्ण से जुड़े मूल्यों का खामियाजा सबसे अधिक उस तबके को भुगतना पड़ा है, जिसे हरिजन कहा जाता है। महात्मा गांधी ने पहली बार न केवल हरिजनों की मुश्किलों की ओर सबका ध्यान खींचा अपितु उनके साथ सदियों से होते आए अन्याय की कटु आलोचना भी की। अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म में घुसी हुई सड़न की संज्ञा देते हुए इससे मुक्त होने का उनका आह्वान मात्र भावोद्वेग या राजनीतिक चालबाजी नहीं था, जैसा कि उनके विरोधी मानते आये हैं। गांधीजी ने एक ओर अछूतोद्धार के लिए आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम निर्धारित किये, दूसरी ओर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से पांच-छह करोड़ हरिजनों को अलग-थलग रखने की ब्रिटिश कूटनीति को भांप कर मुनासिब कार्यवाही की। महात्मा गांधी के कटु आलोचक कट्टर मार्क्सवादी भी स्वीकार करते हैं कि अचेतन मन से ही सही, वे उस समय की ब्रिटिश कूटनीति का सटीक और प्रभावशाली उत्तर दें रहे थे।[2] ब्रिटिश कूटनीति का सबसे अच्छा प्रमाण वह आदि हिन्दू आंदोलन है, जो उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर की शह पर चला और जिसका सफल प्रतिरोध लाजपतराय और बिहारीलाल द्वारा हुआ।[3] तनिक हेरफेर के साथ गांधीजी के अछूतोद्धार आंदोलन का समर्थन प्रेमचंद के उपन्यासों में है। प्रेमचंद पहले उपन्यासकार हैं, जो हरिजन समस्याओं की पड़ताल गहरे जाकर करते हैं।

२० दिसम्बर १९३२ को गांधीजी ने हरिजनों के प्रश्न पर आमरण अनशन शुरू किया, तब प्रेमचंद ने उनके इस कदम को सराहा। अछूतो के मंदिर-प्रवेश के प्रश्न पर वे गांधीजी से सहमत थे। 'कर्मभूमि' में मंदिर-प्रवेश के लिए हरिजनों के संघर्ष के प्रामाणिक ब्यौरे हैं। लेकिन प्रेमचंद जानते थे कि हरिजनों की मुश्किलें मंदिर प्रवेश से हल ही नहीं होंगी : "उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं···असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे, जो उन्हें उठने में मदद दें।" 'कर्मभूमि' में वे जाति के आधार पर छोटे-बड़े का निर्णय करने के विरुद्ध दिखाई देते हैं : "छोटे बड़े का निर्णय कर्म के आधार पर किया जाना चाहिए, जाति के आधार पर नहीं। जो सच्चा है, वह चमार होने पर भी आदर का तथा जो झूठा और लचर है, वह ब्राह्मण होने पर भी तिरस्कार का

पात्र होना चाहिए।"[४] उच्चवर्णों की सुख-सुविधा के लिए हाडतोड़ श्रम और उसकी एवज में नाममात्र की मजदूरी, गालियों और लात-घूंसों की प्राप्ति हरिजनों की नियति रही है। ब्राह्मण उन्हें धर्म का हौवा दिखाकर लूटता रहा, जमींदार डंडे के जोर पर उसकी इज्जत से खेला और महाजन ने उसे आर्थिक तौर पर एकदम नंगा कर दिया। सवर्णों की इस मनमानी के अनेक प्रसंगों से गुजरते हुए प्रेमचंद ने इसकी प्रतिक्रिया में उभरते हरिजत-आक्रोश को अनदेखा नहीं किया। गोदान में हरखू जैसे हरिजन अपनी इज्जत की खुली लूट के लिए तैयार नहीं है : "तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्रह्मन बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम ही चमार बनो। हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो हमारा धरम हमें दे दो।"[५]

प्रेमचंद के समकालीन और बाद के जिन उपन्यासकारों ने हरिजनों के चहुंमुखी शोषण से गुजरते हुए इसके विरोध में आवाज़ उठायी है, उनमें सियारामशरण गुप्त, हर्षनाथ, नागार्जुन, रांगेय राघव, शिव प्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, जगदीशचंद, अमृतलाल नागर, विवेकीराय और मधुकर सिंह मुख्य हैं। सियाराम शरण गुप्त ने 'अंतिम आकाक्षा' में वंशीधर महाजन द्वारा हरपा हरिजन का सब कुछ हड़प लेने की विसंगति पर प्रहार किया है। 'टूटते बंधन' (हर्षनाथ) में पटवारी और चौधरी की मिली भगत से मेहनत कशों पर जुल्म ढाये जाने की विश्वसनीय कथा उपलब्ध है। 'धरती धन न अपना' में चमारों का मुकाबला उन चौधरियों से है, जिनके ख्याल में चौधरी कमीन की लड़ाई में गलती हमेशा कमीन की होती है। जब चमार संगठित होकर अपनी लड़ाई लड़ते हैं, तब चौधरियों की क्रूरता देखते ही बनती है। वे उन्हें कुओं से पानी तक नहीं भरने देते। पिछले दिनों कफलटा (उ० प्र०) में हरिजनों को जिंदा जलाये जाने के पीछे मुख्य कारण यह था कि हरिजन वर बड़ी जाति वालों की तरह घोड़े पर बैठकर जा रहा था। 'सीधा-सादा रास्ता' में इसी प्रकार घटना साक्षी देती है कि दशकों के बाद भी स्थिति में कुछ अधिक परिवर्तन नहीं आया है। रामनाथ तिवारी घोड़े पर सवार चमार युवक को गिरवा देते हैं और साथ के लोग बुरी तरह अपमानित होते हैं। रामनाथ तिवारी जैसे रूढ़िवादियों को शोषितों में उभरती चेतना फूटी आंख नहीं भाती। चित्तप्रसाद जैसे कुछ समझदार समाजसेवी जरूर तर्क और बौद्धिकता से लैस होकर सोचते हैं : "जब स्कूलों में चमार बामन एक साथ बैठकर पढ़ते हैं, रेलों में एक साथ सफर करते हैं, तो क्या कारण है कि चमार अपनी मनचाही रीति से शादी-ब्याह नहीं कर सकते।"[६]

आजादी के बाद धाकली (महाराष्ट्र) सोनागे (महाराष्ट्र), परावली पलेम

(आंध्रप्रदेश), सिकलोकी (उ० प्र०), बेलछी (बिहार) आदि स्थानों पर हरिजनों को सताये जाने की सैकड़ों घटनाएँ सामने आयी हैं। ये घटनाएँ एक ओर समता न्याय, बंधुत्व के लिए प्रतिश्रुत जनतांत्रिक व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं, दूसरी ओर यह स्पष्ट करती हैं कि नौकरशाही और पुलिसतंत्र पूरी तौर पर उत्पीड़कों और हमलावरों के साथ हैं। हरिजन सवर्ण प्राय: जाति संघर्ष के रूप में उभरा है। इसके वर्ग संघर्षनहीं कहा जा सकता। यह देखा गया है कि पिछड़ी और उच्च जातियों के भूमिहीन और निर्धन लोग संघर्ष में अपनी जाति का साथ देते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकतर जगहों के संघर्ष आर्थिक, राजनीतिक कारणों से हुए। उच्च वर्ग अभी हाल तक खेती आदि के लिए हरिजनों का इस्तेमाल लगभग बंधुआ मजदूरों की तरह करता रहा है। आज यदि सरकारी संरक्षण और शैक्षिक जागरूकता के फलस्वरूप भूमिहीन हरिजन मेहनतकशों में विकट आर्थिक असमानता के प्रति क्षोभ और असंतोष जगता है तो यह बात कृषि-व्यवस्था पर एकाधिकार जमाये बैठे लोगों के हक में नहीं जाती। वोट बैंक के रूप में हरिजनों के महत्त्व से ऊंची जातियां सशंकित है, और सरकारी नौकरियों में हरिजन-आरक्षण ने भी उन्हें चिढ़ाया है। ऐसी स्थिति में संघर्ष अस्वाभाविक नहीं है। हरिवंश और अनुराग चतुर्वेदी के साथ बातचीत में प्रसिद्ध समाज शास्त्री आंद्रे बेते ने स्वीकार किया है कि मानव इतिहास से मालूम होता है कि पददलित वर्ग और समाज का सताया मानस एक सीमा तक संघर्ष से आगे बढ़ा है। "इसलिए यह धारणा कि मुक्ति की यह प्रक्रिया बिल्कुल ही शांतिपूर्वक पूरी हो जायेगी, यथार्थपरक नहीं है। इसका यह अर्थ भी कतई नहीं है कि जानबूझकर संघर्ष और तनाव की स्थिति बनायी जाये। पर इस प्रक्रिया में संघर्ष और तनाव अवश्य ही निहित हैं।"[७] हिन्दी उपन्यासों में इस तनाव और संघर्ष को उसके सही परिप्रेक्ष्य में, एक निश्चित सोच के अन्तर्गत कथ्य बनाया गया है।

'मनुष्य के रूप' 'टूटते बंधन', 'जल टूटता हुआ', 'अलग-अलग वैतरणी', 'धरती धन न अपना' आदि में हरिजन सवर्णों के उत्पीड़न के जन्मसिद्ध अधिकार को कड़ी चुनौती देते दिखाई देते हैं। 'टूटते बंधन' में पटवारी के मुंह पर सुगनी का तमाचा शोषण पर स्वाभिमान का प्रहार है। 'जल टूटता हुआ' में विद्रोहभाव लवंगी के जरिए व्यक्त हुआ है और इससे साबित होता है कि वे अन्याय के विरोध में मुंह खोलने का दुस्साहस कर सकते हैं। लवंगी का भाई पार्वती को छेड़ने के झूठे आरोप में पीटा जाता है। वह अकेली इस दोहरेपन को नंगा करती है कि ब्राह्मण क्षत्रिय चमार की लड़की को छेड़े तो कोई बात नहीं, चमार ने बड़ी जाति की लड़की छेड़ दी तो आफत आ गयी। वह पूछती है : "चमार का खून खून नहीं होता ? बाभन का ही खून खून है। हमारी कोई इज्जत

नहीं होती क्या ? बाभनों की ही इज्जत होती है।"[८] 'मनुष्य के रूप' में विद्रोह का रूप तनिक भिन्न है। धनसिंह अंत्यज होते भी अपने को ऊंची जाति का बताता है। बकौल उपन्यासकार "...वह झूठ एक विद्रोह में बोलता था। अपने ऊपर लादे गये क्षुद्रता के अपमान और दमन को अस्वीकार करने के लिए और ऊंची जात वालों की समानता और बराबरी में बैठ सकने के लिए।"[९] 'अलग-अलग वैतरणी' में हरिजन-आक्रोश अपेक्षाकृत उग्र और आक्रामक है। हरिजन संगठित होकर सुगनी को सुरजूसिंह के घर बिठाने यानी कि पत्नी का अधिकार दिलाने के लिए जूलूस की शक्ल में चलते हैं।[१०] हालांकि उनका अभियान असफल हो जाता है, फिर भी अपने गुस्से के भावी परिणामों की चेतावनी देने में उन्हें सफल कहा जा सकता है। 'धरती धन न अपना' में हरिजन काली के नेतृत्व में चौधरियों को अच्छी टक्कर देते हैं। काली चौधरियों को आगाह कर देता है : "हमने तुम्हारी बहुत बातें सुन ली हैं, लेकिन हर चीज की हद होती है। हम पत्थर के नहीं हैं, हम भी इंसान हैं।"[११] 'जंगली सुअर' में देवरिया गांव के हरिजन टोले पर हमले के हवाले से जहां भूस्वामियों को संगठित दिखाया गया है, वहीं दलित वर्ग में भी जागरूकता के संकेत दिए गए हैं।

जहां कुछ उपन्यासकारों ने हरिजनों में अपनी समस्याओं से जूझने का साहस और माद्दा दिखाया है, कुछ ने उनकी समस्याओं के समाधान के लिए पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय सवर्णों में एक नयी मानसिकता के उदय को आशा की दृष्टि से देखा है। प्रगतिशील विचारों के सवर्ण छूआछूत को तर्क की कसौटी पर एक मिथ्या अवधारणा के रूप में पाते हैं। 'नदी यशस्वी है' में नरेश मेहता खानपान संबंधी छूआछूत को मिथ्या आभिजात्य का प्रतीक मानते हैं : "किसी दूसरे के घर या हाथ का न खाने का संस्कार भी बड़ा अजीब होता है...खाकर, न बोलकर अपने को पृथक् करने की विशिष्टता बड़ी ही निम्नकोटि की श्रेष्ठता है, जो कि मिथ्या ही है।"[१२] 'बबूल' (विवेकीराय) का नैरेटर अछूत के लोटे में पानी पीने के सवाल पर सोचता है कि इसे क्यों अछूत समझें ? वह सोचता है कि नियम, कानून और व्यवहार को चीरकर अलग कर दिया जाय तो मैं उसके सामने कितना तुच्छ हूं। 'जल टूटता हुआ' का सतीश इस नतीजे पर पहुंचा है कि जाति पांति का भेदभाव अन्याय को सह लेने का एक मिथ्या संकोच सिखाने वाली रुढ़ि है। इसी प्रकार 'सीधी सच्ची बातें' का जसवंत कपूर छूआछूत आदि के पीछे मनुष्य को पशु से भी गया गुजरा बना देने वाली व्यवस्था की हिंसात्मक प्रकृति को सक्रिय पाता है।[१३] 'इमरतिया' में नागार्जुन ने मस्तराम के माध्यम से मलमूत्र की सफाई करने वाले मेहतर को भी पूजापाठ का अधिकारी माना है। सब अपने शरीर की सफाई खुद करते हैं और स्नान करके बन जाते हैं, फिर मेहतर पवित्र क्यों नहीं हो सकता।[१४]

'नाच्यो बहुत गोपाल' में मेहतरों की बुरी दशा देखकर निर्गुण ने जो सवाल पूछा है, वह अभी एक तरह से अनुत्तरित है। निर्गुण पूछती है : " दुनिया के बड़े-बड़े गिरे लोगों की तकदीरें पलट गयीं। अफ्रीका के लोग जो कल तक गुलाम थे, अब खुद मुख्त्यार हो गये। दुनिया में इत्ता-इत्ता इन्कलाब-जिंदाबाद और आजादी के नारे लगे, पर हम मेहतरों को किसी ने आज तक आजाद नहीं किया बाबूजी।"[१५] वस्तुतः हरिजनों की आजादी की लड़ाई लंबी है। चूंकि सवाल समूची समाजिक-आर्थिक संरचना को बदलने का है, इसलिए यह काम आसान नहीं है। 'हरा समंदर गोपी चंदर' में लक्ष्मीनारायण लाल का यह कथन मायने रखता है : "हरिजन शूद्र और सवर्णों की लड़ाई बहुत लंबी और गहरी है— इसकी जड़ है रक्त में, और इसके तने फैले हैं, हमारे जड़ संस्कारों में। यह युद्ध यह संघर्ष चलेगा,...चलता रहेगा।...सहो नहीं, विरोध करो! अधिकार मांगो नहीं, ले लो।" १६

संदर्भ संकेत

(१) बिंदु' (संपादक नंद चतुर्वेदी), वर्ष ४ अंक २, 'हिंदू बनाम हिंदू', पृ १६६
(२) उत्तरार्द्ध, प्रेमचंद विशेषांक, प्रेमचंद और अछूत समस्या, कांतिमोहन, पृ० १०१
(६) उत्तर प्रदेश स्वाधीनता संग्राम की झांकी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, पृ० ६६
(४) कर्मभूमि पृ० १४६
(५) गोदान पृ० २३८
(६) सीधा सादा रास्ता, पृ० २६३
(७) धर्मयुग २० अप्रैल ८०, पृ० १०
(८) जल टूटता हुआ, पृ० ३५३
(६) मनुष्य के रूप, पृ० २१
(१०) अलग अलग वैतरणी पृ० ३०५
(११) धरती धन न अपना, पृ०
(१२) नदी यशस्वी है, पृ० ६२
(१३) सीधी सच्ची बातें, पृ० ३५
(१४) इमरतिया, पृ० ३४
(१५) नाच्यो बहुत गोपाल, पृ० ३११
(१६) हरा समंदर गोपीचंदर, पृ० ७७

द्वारकापुरी, अलीगढ़ (उ० प्र०)

अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार

१९८०

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखे वैज्ञानिक ग्रन्थों और लेखों के लिए

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के नक्‍द पुरस्कार

ग्रन्थ पुरस्कार :	श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	५,००० रु० का एक
	उत्तम लेखन पुरस्कार	२,५०० रु० का एक
लेख पुरस्कार :	श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	५०० रु० का एक
	उत्तम लेखन पुरस्कार	३०० रु० का एक
	सराहनीय लेखन पुरस्कार	१००-१०० रु० के दो

प्रविष्टियां ३१ जुलाई, १९८१ तक स्वीकार्य

विशेष जानकारी के लिए अपना पता लिखा और शीर्ष पर "अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना विवरण और नियम" शब्दांकित १० सेमी० × २५ सेमी० का बिना टिकट लगा लिफाफा भेजते हुए कृपया लिखिए—सचिव, अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना, वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, न्यू फारेस्ट (देहरादून) पिन-२४८००६।

डीएवीपी ५३९ (३५)/८१

समकालीन परिवेश का सजग चित्रण
अमृतराय का उपन्यास—धुआं

डा० कृष्णबिहारी मिश्र

किसी भी कृति पर विचार करते समय परंपरा की बात आ ही जाती है। समूची स्वतंत्रता (केवल राजनैतिक आज़ादी नहीं) के लिये संघर्षरत उत्तर भारत की शहरी युवा पीढ़ी की मानसिकता को यशपाल ने अपने उपन्यासों में अंकित किया था, विशेषकर 'मेरी तेरी उसकी बात' और 'झूठा सच' में। पहले में सन ४२ के विद्रोह का संदर्भ हैं और दूसरे में देश विभाजन का। पर मुख्य कथ्य है उस समय के मध्य वर्गीय युवा समुदाय का चरित्र। नई पीढ़ी के उपन्यासकारों में अभी किसी ने इतने विस्तृत फ़लक पर लिखने का साहस नहीं किया। एक मात्र अपवाद हैं अमृतराय, और इसीलिये 'धुआं' के रूप में उनका यह प्रयास स्वागतयोग्य है। यह उपन्यास एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति है। आखिर पाठक जानना चाहता है कि पिछले दो तीन दशकों में जवान होने वाले शिक्षित युवक-युवतियों की आशायें, आकांक्षायें, यात्रायें और मञ्ज़िलें क्या रही है और चाहते न चाहते हमारा यह शहरी समाज कहां आ पहुंचा है। उसके शोच की दिशायें, बिंदु और निष्कर्ष क्या हैं। यह छोटा काम नहीं था परंतु अमृत ने इसे सिर्फ पांच सौ पृष्ठों में बखूबी किया है। अपना विस्तृत अनुभव, मंजे शिल्प, विचार-परिपक्वता और प्रगतिशील चेतना के कारण इस कार्य के लिये उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति भी हिन्दी में शायद दूसरा नहीं था।

उपन्यास की पार्श्वभूमि सातवें दशक का बनारस शहर है। पात्रों में अनेक व्यवसायों के लोग है। पुरानी पीढ़ी में यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर हरभजन सिंह, सेठ रामनिवास, पार्टी कार्यकर्ता महावीर सिंह, वकील विष्णु सहाय और नीलाम्बर और स्त्रियों में सुखदा, प्रेमा, शिशिर की मां वगैरह हैं। लेकिन उपन्यास में महावीर सिंह को छोड़कर ये अन्य सभी गौण हैं। महावीर सिंह भी लेखक के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले टिप्पणीकार ही अधिक है न कि सक्रिय पात्र। सक्रिय है युवा वर्ग के शिशिर निरंजन, शंकर सिंह, असीम और नारायण। युवतियों में लतिका, नीला, रागिनी और सिन्थिया। अपने कुछ विचार लेखक ने निरंजन के माध्यम से भी व्यक्त किये है।

कहानी नक्सली शिशिर के कलकत्ते में एक हत्या कर बनारस भाग आने से आरंभ होती है। विकसित होती कहानी में शिशिर बहुत कुछ एक प्रसंग

चरित्र बन जाता है और कथा विश्वविद्यालय के दायरे में घूमने लगती है। छात्र-आंदोलन में सामन्ती परिवार से आये शंकर सिंह का चरित्र विकास प्रकारान्तर से शिक्षा जगत के परिवेश का अंकन है। इंगलैंड से डाक्टरी पढ़कर लौटे निरंजन, इतिहास का शोधछात्र असीम और विश्वविद्यालय का 'दादा' छात्र मंगलनाथ सब उसमें सम्मिलित हैं। नीला, रागिनी, रेखा वर्मा विश्व विद्यालय में पढ़ने वाली छात्राओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। शिशिर का लतिका वेश्या से प्रेम और पड़ोसी छात्र-छात्रा नारायण और रंगिनी का प्रेम-प्रसंग उपन्यास के ताने बाने में कुशलता से ग्रथित, प्रासंगिक कथायें हैं। दोनों की विलोम परिणति एक बड़े सत्य को उजागिर करती है। साहसी नक्सली युवक शिशिर परिस्थितिवश वैश्या वृत्ति में फंस गई लतिका से शादी करके घर बसाता है और भावुक परन्तु कायर मध्यवर्गीय चरित्र के नारायण और रागिनी संयुक्त आत्म हत्या का प्रयास विफल हो जाने पर अलग-थलग, समझौते की जिन्दगी जीने लगते हैं। विदेश के सुखों के प्रलोभन पर लात मारकर इंगलैंड से लौटा डा० निरंजन जनता की सेवा के लिये 'पोली क्लीनिक' खोलता है और अपनी प्रेयसी विदेशी डा० सिन्थिया को इंगलैंड से बुलाकर उससे विवाह कर लेता है। वह भी उसके कार्य में सहयोगिनी बन जाती है। विश्वविद्यालय का साहसी युवा छात्र-नेता शंकर सिंह क्रमशः पेशेवर राजनीतिज्ञ का चोला धारण कर लेता है।

यह उपन्यास एक संक्राति युग से जूझता है। उसकी हलचलों को प्रतिध्वनित करता है। समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संघर्षों को स्वर देता है। इसलिए स्वाभाविक है कि उसमें बहुत कुछ हमारे देश के सभी ज्वलंत प्रश्न उभरे हैं, उन पर लेखक की प्रतिक्रियायें भी। समाधान न हो, न सही उसकी दिशायें काफ़ी कुछ स्पष्ट हैं। अमृत का भारतीय जीवन और इतिहास का अध्ययन सम्यक् और पका हुआ है। इसलिए उनके इस उपन्यास में एक पूरी विचारधारा हमारे सामने आती है, सिर्फ़ इधर उधर प्रासंगिक रूप से कही हुई बातें भर नहीं। उनकी कलम खूब मज़बूत और सशक्त है और उनमें अद्भुत वर्णन-क्षमता है। कोई भी दृश्य हो या कोई भी स्थिति, लेखक पूरे विश्वास के साथ उसका जीता-जागता चित्र हमारे सामने ला उपस्थित करता है। पूरा उपन्यास, मानो ऐसे अनेक चित्रों का, एक सुन्दर अलबम है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, 'धुंआ' में हमारे देश की समस्याओं पर, उलझनों पर, आंदोलनों पर अमृत की बेलाग टिप्पणियां हैं, जो सब मिलाकर उनकी विचारधारा का पूरा नक्शा हमारे सामने लाती हैं। उन सब टिप्पणियों को एक-सूत्रता में बांध कर उस विचारधारा का विवेचन, विश्लेषण करने के लिये, एक अलग बड़ा निबंध लिखना पड़ेगा। लेकिन यहां यह ज़रूर

कहूंगा कि ये सम्मतियां यों ही ऊटपटांग ढंग से नहीं दे दी गई हैं, न वे उपन्यास में ठूंसी गई हैं और न ऊपर से जड़ी हुई लगती हैं। वे संदर्भों और प्रसंगों से निस्सृत कहीं पात्र-माध्यम से, तो कहीं लेखक के अपने चिंतन निष्कर्ष के रूप में हमारे सामने आई हैं। धुयें में भी उनके कारण राह दिख जाती है। हो सकता है, मेरे कुछ कलावादी मित्र मेरी इस बात पर नाक-भौं सिकोड़ें जिनके अनुसार राह दिखाना कलाकार का काम नही है; वह उपदेशक नहीं हैं। न होगा, पश्चिम के किन्हीं विशिष्ट औपन्यासिक मानदंडों से। पर भारत का साहित्यकार, 'राहों का अन्वेषी' नहीं 'पहुंचा हुआ' होता था। चाहे वह महाकाव्य लिखे या दोहे, 'पंचतंत्र' लिखे या 'मंगल सूत्र' रास्ते हमेशा उसके देखे-समझे हुए होते थे।

विचारों की दृष्टि से यह एक संपन्न उपन्यास है। पश्चिम के अन्धानुकरण से लेखक को बेहद चिढ़ हैं। अपने देश पर, उसकी सभ्यता पर उसे गर्व है। वह निरंजन से कहलाता है : "तुमसे केवल इतना कहूंगा कि अपना देश किसी मामले में दुनिया के किसी दूसरे देश से हेठा नहीं है।" निरंजन को इस अन्धानुकरण से कितनी खीझ होती है। वह कहता है :

"अंग्रेज़ चले गये 'अग्रेज़ियत' छोड़ गये। बल्कि और चार चांद लग गये उसको।...कहीं दुनिया के पर्दे पर ऐसे नकलची नहीं मिलेंगे। शर्म आती है। हज़ारों साल पुरानी सभ्यता का यह देश। लेकिन यह सब देखो तो लगता है, जैसे हमारे पास अपना कहने को कुछ है ही नहीं। जो कुछ है, उधार लिया हुआ। 'इम्पोर्टेड' भाषा 'इम्पोर्टेड कल्चर, बड़े पैसे वालों की 'इम्पोर्टेड' मोटरें, जहां जाओ 'इम्पोर्टेड ह्विस्की' का अभिमान, या अपनी देशी ह्विस्की पेश करने का दैन्य। 'इम्पोर्टेड' चीजों का नशा पागलपन की हद को पहुंच गया है। घिन आती है देखकर।"

अमृतराय की दृष्टि खुली और साफ़ है और वह आर्थिक शोषण-तंत्र और अन्याय की समाप्ति के साथ-साथ मानव की सर्वतोमुखी मुक्ति के समर्थक हैं। कितनी बेलाग और बेलौस बात कही है उन्होंने :

"अनुमानतः तीस अरब स्नावयिक कोशिकाओं वाला यह नन्हा-सा दो हाथ पावों का आदमी, अपने आप में एक पूरा ब्रह्मांड है। जो जितना ही खुलता है, उतना ही अगम होता जाता हैं। उसे कैसे तुम 'दो और दो चार' करके अपने बनाये खानों में बन्द कर सकते हो। ठीक है, अब तक यही किया गया है। हर 'समष्टि तंत्र' यही करता आया है, पर इससे हुआ क्या ? आदमी तो झूठा पड़ा नहीं, हां, वे खाने जरूर झूठे पड़ गये। 'सब धान बाइस पसेरी' करके ही तो दुनिया आज उस बिंदु पर आकर खड़ी है, जहां उसे जीने को कौन कहे, मरने को भी ठांव नहीं मिल रहा है। सब जगह आदमी दुखी है, क्योंकि विकलांग है,

भूखा है। वह भूख चाहे शरीर की हो, चाहे आत्मा की, चाहे दोनों की।''

ग़लतफ़हमी में उपर्युक्त 'उद्धरण' को किसी प्रकार का 'संशोधनवाद' नहीं समझ लेना चाहिये। वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत और यथार्थ को लेखक ने विस्मृत नहीं किया है। अमीरों और ग़रीबों, शोषकों और शोषितों के दो सर्वथा पृथक संसारों में अब कहीं कोई मेल या जोड़ संभव नहीं है, इसे अमृत ने स्पष्ट स्वर में घोषित किया है :

''ये दो अलग दुनियां हैं, दोनों, जो एक दूसरे के लिये बिल्कुल अजनबी हैं। उनके बीच खाई नहीं, एक आदिगंत महासागर है, जिसका कहीं ओर-छोर नहीं। कौन कहता है, यह खाई पाटी जा सकती है। नहीं, नहीं, नहीं। कभी नहीं। किसी दिन नहीं। दोनों के बीच अब कुछ बचा ही नहीं, कैसा भी कोई पुल। स्वर का भी। कुछ भी नहीं। सब टूट-फूट गया।''

इसी छिन्न-भिन्न स्थिति से आतंकवादी, नक्सली विचारधारा ने जन्म लिया था, इसे अमृत जानते हैं और वे उसे मानते हों या न मानते हों, पहचानते खूब हैं। उनका हाथ ठीक रोगी की नब्ज़ पर है :

''आतंक का जवाब आतंक से ही दिया भी जा सकता है। गुंडे से उसकी बोली में बात करनी पड़ती है दूसरी कोई बोली वह समझता भी तो नहीं।··· बड़े लोगों के कुत्ते राजकुमारों की तरह से रहेंगे और आदमी गली के कुत्तों की तरह रहेंगे। ऐसा पापी देश संसार में दूसरा नहीं। बातें सुन लो, लम्बी-चौड़ी मोटी-मोटी पोथियां भरी पड़ी हैं। सब ढोंग। धज्जियां उड़ गईं उस तथाकथित गौरवशाली प्राचीन संस्कृति की। जैसे पुराना कपड़ा उधड़ जाता है। कुछ भी तो नहीं बचा। बड़ा बेढब समय है। आज जब आदमी को 'जानवर' कहने से आदमी को नहीं जानवर को गाली पड़ती है। जानवर कभी झूठ नहीं बोलता, घूस नहीं लेता, जाल बट्टा नहीं करता और न अपनी तिज़ोरी भरने के लिये दूसरों का गला काटता है।''

इस देश के रोगों का विश्लेषण करते-करते लेखक के हाथ में एक और सूत्र आ जाता है इसे वह 'हीनता ग्रंथि', कहते हैं। 'इनवर्टेड इन्फीरियारिटी काम्प्लेक्स।' महावीर सिंह असीम को बतलाते हैं :

''एक ओर यह भयानक दैन्य, यह गहरा हीनताबोध और दूसरी ओर उसी की पुरौती के लिये यह गगनचुम्बी आत्मश्लाघा। यह विराट दम्भ, जितना ही विराट उतना ही दयनीय।''

विदेश से लौटे निरंजन को भी अपने देशवासियों की यह 'हीनता' की भावना बहुत खलती है। पाश्चात्य वेशभूषा और अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व देख-कर उसका खून खौल उठता है :

''कैसी परंपरा है वह, जिसने हमें इतना हीन बना दिया है कि हमको

अपनी हर चीज़ से शर्म मालूम होती है···हम इतना राग अलापते आये हैं अपनी पांच हजार साल पुरानी सभ्यता का ! जो कुछ झूठ भी नहीं। दुनिया वाले इसको देखते हैं और दांतों तले उंगली दबाते हैं। जितना बाकी दुनिया मिलकर भी नहीं कर सकी, उतना अकेले हिंदुस्तान ने किया, उस पुराने वक्त में। ख़जाने भर दिये। मांगो क्या मांगते हो। सब मिलेगा।···क्या ज्ञान-विज्ञान, क्या दुनिया भर की कलायें। कुछ भी तो नहीं छोड़ा। फिर यह हो क्या गया इस अभागे देश को, कि जैसे मर ही गया साला।''

विवाह-व्यवस्था, सेक्स, किशोर अवस्था और वयः सन्धि की समस्यायें, सभी पर अमृत ने गंभीरता से और खुलकर विचार किया है। भारतीय समाज में सेक्स के प्रति प्रतिबन्धात्मक दृष्टिकोण होने के कारण, उत्पन्न बुराइयों को उन्होंने पात्रों के माध्यम से अच्छी तरह प्रदर्शित किया है। किशोरावस्था में फिल्मों के दूषित प्रभाव का विश्लेषण भी इसी प्रसंग में है। इस देश की नैतिकता की संकीर्ण परिभाषा और 'दृष्टि, पर कैसी चुभती-सी फ़बती लेखक ने कसी है :

''बड़ा अजब देश है अपना। कुल 'मोरैलिटी' इसी एक बात में रहती है। बाकी तुम चाहे जो कुछ करो। कोई साला पूछने वाला नहीं। लाखों का ग़बन करो, करोड़ों की 'स्मगलिंग' करो, भर-पेट घूस खाओ, जितना जी चाहे ब्लैक करो, मिलावटी दवाओं से बाज़ार पाट दो कि रोगी चाहे न भी मरता हो सुई लगते ही 'टें' हो जाये। लड़कियां खरीदो, बेचो और तो और जिसको चाहे मार दो, मरवा दो सबकी तुम्हें छूट है, छूट नहीं है तो बस···ढोंगी साले जमाने के।''

साम्प्रदायिकता का जो भीषण विषवृक्ष पिछले पचास-साठ वर्षों में इस देश में पनपा और बढ़ा है, और स्वतंत्रता भी जिसे निर्मूल नहीं कर पाई, उसके कारणों का भी विवेचन अमृतराय ने इस पुस्तक में निष्पक्षता और निर्भीकता से किया है। सरकार की 'सेक्यूलरिज़म' की गलत परिभाषा और सत्ता में बने रहने की राजनीति की आलोचना करते हुए महावीरसिंह असीम को 'सेक्यूलरिज़म' का सही मतलब समझाते हैं :

''सेक्यूलरिज़म' का अगर कोई मतलब है, तो वह मतलब है धर्म से अलग और धर्म से बड़े किसी सूत्र में सारे देश को बांधना। और इस तरह सबको एक साथ समेटकर क़दम-ब-क़दम आगे ले चलना। अल्पमत के नाम पर किसी की पृथकता को बढ़ावा देना उसके अलगाव के बनाये रखने का ही ढंग है, देश को गढ़ने का नहीं।''

भारत में वामपक्षीय आन्दोलन में जो विभाजन और सर-फुटौवल पिछले दो दशकों में हुई है, अमृत ने उसकी व्यथा को शिद्दत से महसूस किया है। इसी-

लिये इस दूषित मनोवृत्ति को आड़े हाथों लेते हुये उन्होंने उसकी सख्त आलोचना की है :

"सबसे अलग अपने एक कोने में बैठकर प्रेम से अपना किताबी ज्ञान बघार रहे हैं। यह सिद्ध करने में लगे हैं कि हमीं असल क्रांतिकारी हैं। बाकी तो सब भटके हुए लोग हैं। कोई वामपन्थी दु:साहसिक, कोई दक्षिण-पन्थी 'संशोधन-वादी'···कुछ और इस देश में करने को नहीं था—पहले इसका निर्णय तो हो जाये कि किसकी जात शुद्ध है, कौन सोलहों आने कुलीन क्रांतिकारी है। कोई रूस का प्रमाण देता, कोई चीन का, अपने देश का प्रमाण किसी के पास न था।"

ऊपर के उद्धरण क्या उनकी शैली की विशिष्टताओं को उद्‌घाटित नहीं करते ? लोगों और स्थितियों, दोनों के खाके खींचने और उनमें रंग भरने में अमृत सिद्ध-हस्त हैं। 'सेलर' में बैठे हुये लोगों पर उनकी यह टिप्पणी इसे प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है :

"उनमें शायद दोनों ही तरह के लोग थे—कुछ जो वक्त की हवा के मारे थे और कुछ, जो वक्त की हवा के नहीं, वक्त के मारे थे। जिन्हें समय बहुत से कचरे के साथ बहाकर नदी किनारे फेंक गया है। दोनों ही, अपने गिलास के इस तीखे पानी में आंखें गड़ाये हुए, किसी भुतहे मकान जैसी खाली-खाली अपनी जिन्दगी का मतलब पढ़ने की कोशिश कर रहे थे।"

आज अमृत शहरी हैं, लेकिन कहीं बचपन के देहाती अनुभवों का एक कोश भी उनके पास है। देहाती मानसिकता को व्यक्त करने के लिए बड़ी सहजता से वे वहाँ से भाषा का रचाव या उपमायें उठा लेते हैं :

"कैसा अन्धेर है, परलै है परलै। जैसे कोई सांड घुस आया हो किसी कुम्हार की मड़ैया में और कच्चे-पक्के घड़े, जो सब यहाँ-वहाँ धरे हैं, सब को हुरपेट-हुरपेट के फोड़े डालता हो।"

इस बिम्ब-विधान में पुरानी सामन्ती व्यवस्था और उससे जुड़ी वर्ण-व्यवस्था के विनाश की कैसी सशक्त अभिव्यक्ति है।

इस उपन्यास की सीमायें भी हैं। अधिकांश पात्र उच्च-मध्य वर्ग के हैं। उनका न तो इस देश के निम्न मध्यवर्ग और किसान मजदूर की जिंदगी में चलने वाली आर्थिक जद्दोजहद से कोई ताल्लुक है, न समाज की बीहड़ परिस्थितियों से उन्हें कोई मर्मान्तिक संघर्ष करना पड़ता है। उनको धन, सुरक्षा, सामाजिक सम्मान, सभी कुछ तो प्राप्त है। इसलिये बौद्धिक टिप्पणियों के अतिरिक्त, उपन्यास, भावात्मक स्तर पर, देश की विराट समस्याओं के संदर्भ से गहरे लगाव के साथ जुड़ नहीं पाया है। यह नहीं कि वे समस्यायें लेखक के लिये 'अहम' या महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु इसके बावजूद, उपन्यास का मूलाधार बनने से रह जाती है। दूसरा अभाव पात्रों की मानसिक जांच पड़ताल का है। मुझे लगा, कि

नारायण और रागिनी के अतिरिक्त, अन्य पात्रों में यह पड़ताल, कहीं ऊपरी सतहों तक ही रह गई है। इसलिये वे पात्र हमारे अन्तरंग नहीं बन पाये हैं। परिस्थितियों की भयावहता का बेबाक विश्लेषण है, लेकिन वह जीवन के माध्यम से न आकर लेखकीय वक्तव्यों की ऊपरी पोशाक के रूप में ज्यादा आया है।

अपने साक्षात्कार में (सारिका—अंक २६५) अमृत ने ठीक कहा था कि उत्तराधिकार बनिये की परचून की दुकान की तरह नहीं प्राप्त होता, उसे अर्जित करना पड़ता है। 'धुंआ' में वे प्रेमचन्द के उस उत्तराधिकार को प्राप्त करने की सही दिशा में कुछ आगे बढ़े हैं। लेकिन, अभी वह इस प्रक्रिया के मार्ग में ही हैं। यह ठीक है कि प्रेमचन्द की परम्परा किसी परिवेश-विशेष के चित्रण से नहीं, सही परिप्रेक्ष्य और यथार्थ-अनुभव के सामंजस्य से जुड़ी है। साथ ही यह सामंजस्य एक विशिष्ट कलात्मक स्तर पर घटित होना चाहिये, जिसे प्रेमचन्द ने अपनी अन्तिम कृतियों में पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था।

एफ-१३५, लाजपत नगर-१, नयी दिल्ली-११००२४

धुआं—ले० अमृतराय, हँस प्रकाशन, इलहाबाद, प्र० संस्करण, अक्टूबर १९७७, पृ० ५२८; मूल्य ३६ रु० मात्र।

संचेतना के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे के विषय में विज्ञप्ति

पत्र-४ (नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता पता	डा० महीप सिंह, भारतीय एच १०८, शिवाजी पार्क, दिल्ली-२६
४. प्रकाशक का नाम और राष्ट्रीयता पता	डा० महीप सिंह, भारतीय एच १०८, शिवाजी पार्क, दिल्ली-२६
५. सम्पादक का नाम और राष्ट्रीयता पता	डा० महीप सिंह, भारतीय एच १०८, शिवाजी पार्क, दिल्ली-२६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	श्रीमती एस० के० सिंह, भारतीय एच० १०८, शिवाजी पार्क, दिल्ली-२६

मैं, महीप सिंह इसके द्वारा घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही है।

(ह०) महीप सिंह

उत्तर रेलवे

प्रिय विद्यार्थियो, तीर्थ यात्रियो, पर्यटक बन्धुओ

अब भारत दर्शन का आसान तरीका यह है

कि आप देश के सरकूलर भ्रमण के लिए पहले या दूसरे दर्जे का सरकूलर यात्रा टिकट निर्धारित स्टेशनों से खरीदें। इसका रियायती किराया डाक/एक्स-प्रेस गाड़ी के सामान्य किराए से १५ प्रतिशत कम है। किराया-श्रेणी तथा वैधता की अवधि (३०, ६० या ९० दिन) यात्रा की कुल दूरी पर निर्भर करेगी। मार्ग में आप जिस स्टेशन पर यात्रा विराम करना चाहें और जितने समय के लिए करना चाहें उसके लिए आपको अनुमति होगी किन्तु यह अवधि टिकट वैधता की अवधि से आगे नहीं होनी चाहिए।

हमने आपकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ३० प्रकार के मानक सर-कूलर यात्रा टिकट निर्धारित किये हैं। इनमें भारत के सम्पूर्ण मनोरम दर्शनीय स्थलों को शामिल किया गया है। इनमें से आप किसी भी एक यात्रा का चयन कर सकते हैं।

यदि आपने अपनी सुविधा के अनुसार अपना कोई अलग से कार्यक्रम बनाया है तो आप कृपया इस सम्बन्ध में हमसे व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क स्थापित करें या अपनी आवश्यकता के बारे में हमें लिखें। हम आपके भ्रमण कार्यक्रम से लिए रियायती किराये का हिसाब लखाकर आपको जानकारी देंगे। (यह आवश्यक है कि यात्रा सरकूलर होनी चाहिए और यात्रा की दूरी २४०० किलोमीटर से कम नहीं होनी चाहिए तथा प्रभारी किराया-दूरी सीधे यात्रा मार्ग द्वारा भ्रमण सूची में दर्ज प्रारम्भिक स्टेशन और सबसे दूर के स्टेशन के बीच की दूरी से तीन गुना से अधिक होनी चाहिए)

विस्तृत जानकारी के लिए कृपया समीपवर्ती स्टेशन के स्टेशन मास्टर या सम्बन्धित मंडल के वाणिज्य अधीक्षक से सम्पर्क स्थापित करें या टेलीफोन नं॰ ३८७३२६/३८७५०३ पर जानकारी प्राप्त करें।

मुख्य वाणिज्य अधीक्षक
उत्तर रेलवे, नयी दिल्ली

साम्प्रदायिकता : हिंदी उपन्यास के संदर्भ में

डा० प्रेमकुमार

मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव का सर्वाधिक विकृत रूप सम्प्रदाय भेद में देखा जा सकता है। कुछ दिन पूर्व तक लगता था कि भारत विभाजन के बाद की साम्प्रदायिकता का विष अब लगभग समाप्त हो गया है किंतु हाल के वर्षों में हुए साम्प्रदायिक दंगों ने एक बार फिर सोचने-विचारने को मजबूर किया है। साम्प्रदायिकता आज देश की प्रमुखतम समस्याओं में से एक है। हिंदू और मुसलमान के आपसी मतभेद तथा वैमनस्य से स्वतंत्रता के तुरंत बाद के इतिहास के बहुत से पन्ने रक्तरंजित हैं। यह ज़हर शहरों और गांवों में पिछले दिनों में कुछ अधिक ही उजागर हुआ। देखना यह है कि साम्प्रदायिकता की समस्या ने समकालीन उपन्यासकार को कितना और किस तरह प्रभावित किया है। 'तमस' के अतिरिक्त इस दशक में किसी और उपन्यास का केवल साम्प्रदायिकता को आधार न बनाना अप्रत्यक्ष रूप से उपन्यासकारों की इस समस्या की तरफ से आश्वस्ति और निश्चितता का सूचक है। समकालीन उपन्यासों पर एक नजर डालने से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि ग्राम-जीवन और नगर-जीवन से उपन्यासकारों ने साम्प्रदायिकता का प्रभाव अलग-अलग रूपों में देखा है। यद्यपि इसके प्रति व्यक्त प्रतिक्रियाएं थोड़े-बहुत अंतर से लगभग एक हैं। साम्प्रदायिकता को लेकर 'झूठा सच', 'तमस' आदि नगरबोध के उपन्यासों में जितने विस्तार और गहराई से लिखा गया है उतना ग्रामांचल के उपन्यासों में नहीं। उपन्यासकार यह मानते प्रतीत होते हैं कि साम्प्रदायिकता गांव के लिए कुछ समय पहले समस्या नहीं थी। यह ज़हर गांव में शहर से आयात किया गया है।

ग्रामांचल के कथाकारों ने इस भयावह समस्या को गंभीरता से लिया है। पाकिस्तान बनाने की मांग के साथ हिंदू-मुसलमानों के बीच दरार पड़ने लगी और साम्प्रदायिक तत्त्वों, पूँजीपतियों और राजनीतिक नेताओं ने इसे चौड़ा करने में सहायता की। नहीं तो गांव में स्थिति यह थी कि होली के दिन मुसलमान खुशी मनाते थे और ईद के मौके पर हिंदू उल्लास के साथ सम्मिलित होते थे।[1] 'आधा गांव' के हकीम साहब का तो कहना यह है कि यह पाकिस्तान हिंदू-मुसलमानों के साथ-साथ बाप-बेटा और भाई-बहन को भी अलग करने के लिए बन रहा है। 'आधा गांव' और 'अलग-अलग वैतरणी' आदि उपन्यासों में इस एकता के मिटने को बड़े दर्द और हसरत के साथ देखा गया है। 'अलग-अलग वैतरणी' में खलील मियां विपिन को बीते दिनों से परिचित कराते हुए स्पष्ट

करते है कि क्यों उन्होंने पाकिस्तान स्थित बेटे के पास जाना स्वीकार नहीं किया। उन्हें अनुभव हुआ था कि सारे अमन-चैन के बाद झूठी तोहमत लगाकर वतन छोड़ना बहुत बड़ा कुफ्र है।[२] 'आधा गांव' से सद्दन जैसे अनेक मुसलमान गंगोली को ही अपना वतन जानते हैं। उन्हें हैरानी है कि गंगोली कोई और मुल्क कैसे हो सकती है। 'आंधा गांव' में साम्प्रदायिकता विरोधी स्वर बड़ा तीव्र है। राही ने साम्प्रदायिक और अवसरवादी ताकतों को सरेआम नंगा किया है जो मेल-जोल और सुख-चैन के साथ रह रहे ग्रामीण हिंदू-मुसलमानों में वैमनस्य के बीज बोने से बाज नहीं आती हैं। अलीगढ़ के लीगी नेताओं की बकवास सुनकर पूछा गया कम्मो का मासूमियत और झिड़की भरा सवाल[३] औसतन ग्रामीण की मानसिकता का अच्छा परिचय देता है। जब कम्मो एक चमार से पूछता है कि क्या आजादी के बाद 'तू हमरे मां-बहिन को निकाल ले जइयो' तब वह चमार बौखलाकर अलीगढ़ियों से दो टूक बात कह देता है—'आप लोग तो लिक्खल-पढ़ल बुझाताड़ी तनी सोची की हमनी के जीयत कोऊ मियां लोगन की बहिन-मतारी तरफ देख सकेला ?'[४] तन्नू के लिए गंगोली माँ है[५] तो फुन्नन मियां भी पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे में फंसने[६] से साफ इंकार कर देते हैं। वैसे ऐसी भावनाएं अब अतीत का विषय बन चुकी हैं। अब तो गांव में भी वही घृणा और वैमनस्य सक्रिय है जो अलीगढ़-मुरादाबाद आदि नगरों को समय-समय पर नरक बना देते हैं।

ग्रामांचल के उपन्यासकारों ने हिंदू-मुसलमानों के उन उग्रवादी तत्त्वों की अच्छी खबर ली है जो दोनों सम्प्रदायों में तनाव बनाये रखने में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। एक ओर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघ जैसी शक्तियां है तो दूसरों ओर मुस्लिम लीग जैसी साम्प्रदायिक ताकतें हैं। 'मैला आंचल' के काली टोपी वाले संयोजक जी समझते हैं कि सारे आबर्त में केवल आर्य अर्थात् शुद्ध हिंदू रह सकते हैं।[७] 'आंधा गांव' में विभिन्न साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा हिंदू-मुसलमानों के प्रति फैलाई गयी घृणा का उल्लेख किया है। साम्प्रदायिकता की बुनियाद को ढूंढ़ते हुए उपन्यासकारों ने यह लक्ष्य किया है कि कुछ पूंजीवादी शक्तियां इस प्रकार के भेद को अपने लिए हितकर समझती हैं। उनकी नेतागिरी की पूछ साम्प्रदायिक तनाव के क्षणों में ही होती है। ऐसे व्यक्ति हिंदू और मुसल-मान दोनों वर्गों में उपलब्ध हैं जो मामूली घटनाओं को तूल देकर रक्तपात को प्रोत्साहित करते हैं और स्वयं किसी भी झंझट या आघात से बचे रहते हैं। इस अंतर्विरोध को 'जल टूटता हुआ' में सुग्गन मास्टर ने अच्छी तरह भांपा है। शेखूपुरा के सैयद और महीपसिंह ताजिये के अवसर पर दंगा करा देते हैं, लेकिन खुद लड़ने नहीं आते। वे धर्म के रक्षक घर में पड़े-पड़े, बिना चोट खाये या आवृत हुए ही धर्म की रक्षा करते रहे हैं।[८] यह अच्छा है कि ऐसे लोगों की

असलियत को जनता—खासकर शिक्षित जनता धीरे-धीरे समझ रही है। 'अलग-अलग वैतरणी' में विपिन ने ठीक समझा है कि वहशत किसी कौम की खासियत नहीं होती—'वह तो एक जुगनू है जिसे चंद लोग अपने स्वार्थ के लिए कौम को पिलाते है।'[९]

नगरों में होने वाले साम्प्रदायिक दंगे किसी भी बुद्धिजीवी की चेतना को बिना झिझोड़े नहीं रह सकते। आजादी के बाद हिंदुस्तान और पाकिस्तान के मूल में जो साम्प्रदायिक मनोवृत्ति थी उसे 'झूठा सच' और 'तमस' आदि में गंभीरतापूर्वक लिया गया है। 'झूठा सच' में विभाजन की स्थिति पर सोचता हुआ पुरी देखता है कि धरती पर एक लकीर बना दी गयी थी और इस लकीर के इधर-उधर के लोग अपना मनुष्यत्व गंवा बैठे थे।'[१०] मनुष्यता गंवाने के क्रूर और निर्मम प्रमाण 'तमस' में हैं। हत्या, आत्महत्या, बलात्कार, बलात् धर्म परिवर्तन आदि की घटनाएं 'तमस' में भीष्म साहजी ने अपने अनुभवों के आधार पर लिपिबद्ध की हैं। इत्र वाले पठान की हिंदू किशोरों द्वारा हत्या, मुसलमानों द्वारा गुरुद्वारे पर चढ़ाई के फलस्वरूप कुएं में औरतों और बच्चों की आत्महत्या, मुसलमान युवकों द्वारा मृत युवती के साथ संभोग और इकबाल सिंह की इकबाल अहमद में परिणति मानव के दावन हो जाने की कहानी कहते हैं। वहशत का जुनून इतना उग्र होता है कि हिंदू-मुसलमान का फर्क कुछ देर बाद मिट जाता है और हैवानियत के हाथों इंसानियत मसल दी जाती है। 'ओस की बूंद' के अंत में एक मुसलमान द्वारा शहला का शील भंग इस संदर्भ में दृष्टव्य है।[११]

उपन्यासकारों ने साम्प्रदायिकता के उत्स और इसके परिणामों को बारीकी से देखा है। उनके अवलोकन का निष्कर्ष यह है कि इन उपद्रवों के पीछे या तो हुकूमत का हाथ होता है या कोई आर्थिक कारण।[१२] जो चेहरे साम्प्रदायिकता की चिंगारी को शोला बनाते हैं वे ही रक्तपात के बाद के शांति अभियानों में सबसे आगे होते हैं। यशपाल जैसे उपन्यासकार को साम्प्रदायिकता के शमन के लिए गांधीवादी हृदय परिवर्तन की उपयोगिता में संदेह है। 'झूठा सच' में उन्होंने रावत के शब्दों में कहलवाया है—"वेशक कुछ समय के लिए बहुत-से लोगों के हृदय बदल गये हैं लेकिन मस्तिष्क नहीं बदल गये हैं···भावुकता कुछ समय के लिए तर्क को दबा लेती है लेकिन कारण नहीं मिट गये।[११] सांम्प्रदायिक दंगों से न केवल हिंदू-मुसलमानों के संबंध खराब होते हैं अपितु एक ही सम्प्रदाय के घरेलू संबंध भी बिगड़ जाते हैं। उपन्यासकारों ने साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की कटु-आलोचना करते हुए धर्म और मजहब के आधार पर किसीको राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय मानने का भी अपनी कृतियों में निषेध किया है। 'झूठा सच' में गिरधारीलाल का यह दृष्टिकोण—हम ट्रेटरों (देशद्रोहियों) को बर्दाश्त नहीं करेंगे लेकिन मजहब से ट्रेटर इंत्याज (निर्णय) गलत बात है—प्रगतिशील और धर्म-निरपेक्ष है।

मजहब के आधार पर इन्सान को बांटने का विरोध 'अमृत और विष' में नवाब साहब के शब्दों में व्यक्त हुआ है—यहां एक साथ रहते हुए हिंदू-मुसलमानों ने आपस में एक-दूसरे से बहुत कुछ लिया है और दिया भी है बल्कि हमारे यहां बहुत से रीति-रस्म हिंदुओं के आ गये हैं, बहुत-सी बातें हमने उनकी देखा-देखी अपनाई हैं और हिंदू भी दरगाह, पीर वगैरा को मानने लगे हैं।[१४] साम्प्रदायिकता और आपसी द्वेष के बीच इन्सानियत की हल्की-सी मौजूदगी उपन्यासकारों को आश्वस्त करती है कि एक दिन यह वहशत और दरिन्दगी खत्म हो लेगी। 'तमस' में रमजान कोशिश करके भी हरनाम और उसकी पत्नी की हत्या नहीं कर पाता[१५] और इन्सानियत की प्रतीक राजो उनकी जान बचाने में सक्रिय भूमिका निभाती है।

नगर-महानगर जीवन के उपन्यासों में साम्प्रदायिकता की चर्चा इधर कम होने का कारण यह हो सकता है कि उपन्यासकार की जिस अग्रगामी मानसिकता ने दो दशक पहले ही साम्प्रदायिकता को अस्वीकार कर दिया था उसके लिए अब इस समस्या में कोई नयापन या आकर्षण शेष नहीं रह गया। यह अलग बात है कि पिछले वर्षों में कुछ नगरों में हुए भीषण साम्प्रदायिक दंगे एक बार पुनः कुछ सोचने को विवश करते हैं। वैसे उपन्यासकारों की दृष्टि साम्प्रदाय-भेद के, इकतरफा विरोध की है। उन्होंने किसी भी स्थिति में, किसी भी मूल्य पर सम्प्रदाय के आधार पर मनुष्य के बीच किसी भी प्रकार के भेद को स्वीकार नहीं किया है। यदि समकालीन हिंदी उपन्यास का कथ्य प्रगतिशील और स्वस्थ मूल्यों से प्रतिबद्ध लगता है तो उसका एक कारण यह भी है कि गांव और नगर के स्तर पर किसी भी प्रकार के 'भेद' को उसमें पूर्ण अस्वीकृति मिलती है।

संदर्भ संकेत

१. अलग-अलग वैतरणी—पृ० २५५, २. पृ० २६६, ३. आधा गांव—पृ० २५१, ४. वही पृ० २५२, ५. वही पृ० २०२, ६. वहीं पृ० १६२, ७. मैला आंचल—पृ० १२६, ८. जल टूटता हुआ—पृ० २४, ९. पृ० ४७६। १०. झूठा सच—पृ० २१ ,११. ओस की बूंद—पृ० १५३, १२. झूठा सच—पृ० ६२ १३. वही—पृ० २०५, १४. अमृत और विष—पृ० ६५७, १५. तमस—पृ० २२०।

अशोकभवन, मानसिंह गेट, अलीगढ़

प्रतिमा वर्मा, सुभद्रा, मणिका मोहिनी के उपन्यास

बदलता युग, आ रही परिस्थितियां और उनसे समझौता करने वाली नारी

डा० मीना भट्ट

हमारे सामने इस समय नये प्रकाशित तीन उपन्यास खुले पड़े हैं, **'उन शाखों पर'** प्रतिमा वर्मा, **'अजन्मी आत्मा की बाहें'** सुभद्रा और **'पारू ने कहा था'** मणिका मोहिनी के। तीनों उपन्यास बड़े ही आकर्षक हैं, और निश्चित ही आधुनिक युग की सामाजिक प्रवृत्तियों एवं संबंधों को इनमें देखा जा सकता है। औद्योगिक और वैज्ञानिक युग से सामाजिक जीवन के परिवर्तन की सुंदर कथाएं इन उपन्यासों में है। ये तीन उपन्यास मात्र उदाहरण हैं युग की परिस्थितियों से समझौता करने वाली, आत्मबल से रहने वाली नारियों के। जहां परिस्थितियां बदली तो, मानव की विचारधारा बदली, वही पुरुष नारी का कार्यक्षेत्र भी बदला है। नयी प्रथाओं और परंपराओं के जन्म से रूढ़िवादी प्रवृत्तियां समाप्त होने लगीं। इस परिवर्तित युग के साथ अनुकूलन पुरुष तो करना चाहता है किंतु नारी को उसीके अनुसार चलने को बाध्य किया जा रहा है, ऐसा क्यों? पुरुष तो पुरुष, इस देश की संस्कृति भी उसे आगे कदम बढ़ाने से रोकती है। इसी युग बोध की झलकियां हम इन उपन्यासों में देखते हैं।

विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग में पायी जाती है। प्रत्येक समाज में—चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण हो अथवा नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से पाया जाता है। वास्तव में, विवाह परिवार की आधारशिला है। विवाह के माध्यम से ही हिंदू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, घर बसाते हैं, अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति, संतानोत्पत्ति एवं बालकों का पालन-पोषण करते हैं और उन्हें समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में योग देते हैं। इसी रूप मे हिंदू विवाह का सामाजिक संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति को कर्मप्रधान प्राणी बनाकर जीवन में स्थायित्व प्रदान करता है। मानव समाज की सत्ता एवं संरक्षण विवाह और परिवार पर आधारित है। किंतु क्या आज के भारतीय समाज के बदलते परिवेश में विवाह और परिवार के इस रूप, परिभाषा, महत्त्व को देख पाना संभव है? औद्योगिक जटिल युग में भी क्या ये मान्यताएं स्थिर हैं? यदि नहीं तो इसमें किसका दोष है और क्यों? युग और परिस्थितियां बदली हैं तो मानवीय विचारधारा भी बदली अथवा पुरानी मान्य-

ताओं से समन्वय की स्थिति में नहीं। इसीसे विलंब विवाह, विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह, अंतर्जातीय विवाह और लड़कियों का कुंवारी रहकर स्वतंत्र नौकरी करना आदि स्वरूप जन्मे हैं। ये तीनों ही उपन्यास किसी एक मूल मनोविकार के आधार पर समाज के इन पक्षों पर विचार करते हैं।

मानव व्यवहार के नियामक आदर्श-प्रतिमानों में जनरीतियां, प्रथाएं, रूढ़ियां और कानूनों का सदैव हाथ रहा है। किंतु तीव्रगति से परिवर्तित होने वाले समाज में नारी के विकास में बाधक ही रही हैं। एक स्थान पर आकर पुरुष इन्हें ही स्वीकारता है। दो उपन्यासों के **'उन शाखों पर** और **अजन्मी आत्मा की बाहों में'** पुरुष पात्र तो प्रायः ऐसे ही हैं। आगे बढ़ने की बात, पश्चिम के प्रभाव से पुरुष तो करता है, किंतु आज की नारी तो कहती भी है और करके भी दिखा रही है। पुरुषों की पलायनवृत्ति स्त्रियों के मार्ग की बाधक आज से ही नहीं शताब्दियों से रही है।

क्रमानुसार तीनों उपन्यासों में से पहली दृष्टि **'उन शाखों पर'** ठहरती है। इसका प्रारंभ उपन्यास की नायिका और प्रमुख पुरुष पात्र नवल की ट्रेन में अचानक मुलाकात होने से होता है। पूर्व परिचित होने के कारण नवल जिज्ञासा से तनुजा के पूरे परिवार के बारे में पूछता जाता है, जिसमें तनुजा के व्यक्तित्त्व के साथ-साथ अन्य लोगों की घटनाएं भी चलती है। आधे उपन्यास तक यही चलता है। इन परिचयों से यही पता चलता है कि तनुजा बचपन से ही सबकी सेविका रही है। इस परिवेश में उसे जो प्यार चाहिए था वह नहीं मिला, बल्कि असुंदर होने के कारण उपेक्षा ही मिला। इसीकी तुलना में तनुजा की बड़ी बहन नीरजा का व्यक्तित्व एकदम मार्डन लड़की के रूप में है, "डैडी को कार से कहीं ड्राप करना, मम्मी को शापिंग कराना, टेलर के यहां जाना···हां आपको कभी पार्टी अरेंज करनी हो न तो उनपर छोड़कर देखिए। होटल वगैहरा से कनेक्ट करके फर्स्ट क्लास पार्टी करवा देंगी जीजी।" (पृष्ठ ८-९) यहां एक ही बाप की दो बेटियों को दो तरह से संस्कार मिले थे। इसमें नीरजा तो डा० साहब की बहुत ही प्यारी, सिर चढ़ी बेटी है। डा० अग्रवाल ने भी चरित्र के मामले में कई मर्यादाएं तोड़ी थीं। इसका प्रभाव तनु, आनंद (पुत्र) पर ही नहीं, बल्कि नीरजा पर भी स्पष्ट था। आनंद गंभीर किंतु बुद्धिमान था। वह हर परिस्थितियों के साथ अच्छे निष्कर्ष निकालने में समर्थ था। इसलिए अपनी हर गलती पर पश्चाताप भी करता रहा। पुरुष होने के नाते उसकी अभिव्यक्ति दूसरे ही रूप में होती थी। तनु महिला होने के कारण हर कदम पर सहमी-सहमी चलती रही। उसका हर कदम सम्हलकर उठाने में, उसके संस्कार एवं देखा हुआ यथार्थ ही था।

वर्तमान संपन्न और शिक्षित परिवार अंदर से कितने खोखले होते हैं, यह

आनंद के आक्रोश से स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है, "...एक बार तो मन में आया कि डैडी की ह्विस्की में से एक तगड़ा डोज लेकर सो रहूं। कल फिर डैडी बहुत देर से आये और जाने मम्मी से कुछ पूछा या कहा, उन्हें मारने लगे..." (पृष्ठ १८)। यही संस्कार आनंद को अपनी पत्नी के साथ दुर्व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। तनु के रोकने पर वह कहता है, "तब तुम डैडी को क्यों नहीं रोकती थी ? क्यों मम्मी को डॉट मार सहने देती थी।" (पृष्ठ २२)। और इसी बात को तनु भी पुरुष वृत्ति पर सीधे व्यंग्य करती है, "और तुम ? तुमने क्यों नहीं रोका ? तुम तो लड़के थे और बड़े थे...कहीं मजूरी करके एक झोपड़ा डाल लेते और मम्मी को लिवा जाते अपने साथ। इतना ही दुःख था तुम्हें तो..." (पृष्ठ २२)। किंतु भारतीय नारी अपने धर्म को नहीं तोड़ सकती थी।

इस साधारण व्यक्तित्व वाली तनु पर परिवार के जो संस्कार पड़े, उसके अनुसार उसने कैसे जीना सीखा, उसका स्वभाव किस तरह का पड़ा, समाज में क्या स्थान रहा तथा अंत क्या हुआ आदि पर लेखिका ने प्रकाश डाला। उपन्यास का कथातत्त्व उच्चवर्गीय परिवार से संबंधित होते हुए भी पात्रों का निर्माण मध्यम रूप में हुआ है।

उपन्यास के आधे भाग तक तनुजा के सामने कुछ ऐसे असफल वैवाहिक चरित्र थे, जिनको देखकर वह अविवाहित ही रहना चाहती है तथा नौकरी करके स्वतंत्र जीवन बिताना चाहती है। तनुजा के इस चरित्र अंकन के बाद लेखिका यह भी बताती है कि समाज में विवाह करना जरूरी है। बहुत कुछ उपन्यास का शीर्षक यही स्पष्ट हो जाता कि वह 'उन शाखों पर' नहीं बैठना चाहती जिस पर बैठकर बहुतों ने (विशेषकर मम्मी, भाभी, नीरू) दुःख ही भोगा है। किंतु उसके इस कदम को समाज ने कहां तक माना। परिवार के प्रभाव एवं औरतों की जलील बातों से उसकी नौकरी में भी विघ्न आए। नये उत्साह एवं जोश गांव में नयी नौकरी करने चल पड़ती है किंतु, यहां समाज के नेताओं ने ही उसका कुमारीत्व नष्ट कर, समाज में जीने लायक नहीं रखा। कहानी में यहां बड़े सुंदर ढंग से मोड़ आया है। यहीं लेखिका बता देती है कि आज की नारी कर्मयुक्त रहकर भी समाज के भेड़ियों के आगे पराजित है। तनुजा के चरित्रानुसार ऐसे शंकित तथ्य भी हैं, "उन बातों से किसी उदार सेवाव्रती व्यक्ति का उतना चित्र नहीं बनता था जितना कि दांव-पेच में उलझे, धन और शक्ति के पूरे अहसास वाले का।" (पृष्ठ ८८-८९)। यहां केवल तनुजा ही नहीं है तनुजा के माध्यम से देश की हजारों अविवाहित नारियों के चरित्र हैं जो समाज में इस तरह पराजित हुई है। लेखिका ने सुषमा के माध्यम से कहलाया है, "यहां सब की चोरी हुई है, भाई साहब और सबको चोट आयी है। यहां नारी तो पिछले

स्कूल में। पिछले में नहीं तो उसके पिछले में।...बचा कौन है यहां?" (पृष्ठ ११५)।

इस प्रकार देश और समाज सेवियों के सामने हजारों लड़कियों के कर्त्तव्य-निष्ठा के सपने टूट जाते हैं। नवल के कहने पर निशिकांत से विवाह कर तनुजा समान हर लड़की को अपनी दिशा मोड़नी पड़ती है। वैसे नवल के रूप में कुछ युवक आज की स्थिति को संशोधित भी करना चाहते हैं किंतु इन समाज सेवियों के सामने इनकी शक्ति तुच्छ है।

लगता है तनुजा जैसी लड़कियों की जो हार समाज सेवियों के समक्ष हुई, वही सुभद्रा के **'अजन्मी आत्मा की बाहें'** की नायिका चरित्र आत्मनिर्भर होकर सामाजिक रूढ़ियों एवं मान्यताओं को तोड़कर, अविवाहित रहकर स्वयं अपनी ही दिशा खोजने को निकल पड़ना है। अथवा जो समस्या तनुजा के पास थी उसका निराकरण सुमिता ने कर दिखाया। वैसे इसके और **'उन शाखों पर'** के कथातत्त्व में अंतर है। किंतु इसके आगे की कथा की कड़ी जोड़ी जा सकती है। वैसे सुमिता की कहानी तनुजा से कुछ कम दर्द भरी नहीं है। बल्कि उसमें जहां तक साहस था, उसने परिवार समाज और रूढ़ियों को अपने संस्कारों के कारण झेला, किंतु इनसे पराजित होने के बाद वह दृढ़ता से अपना नया मार्ग खोज लेती है। यही आज के युग की मांग है।

प्यार में असफल सुमिता की कहानी अत्यन्त दर्दभरी है। एक नहीं तीन-तीन प्रेमों में असफल होने पर उसे दुःख तो मिला ही, साथ में परिवार जनों की उपेक्षा भी। लेखिका ने सुमिता के माध्यम से नारी के एक लंबे समय तक सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने में उसके संस्कार बाध्य करते रहे, बताया। किंतु अंत में युग की आवश्यकता, वातावरणानुसार सुमिता का चरित्र अंकित करने में सफल हुई है। इसी से उपन्यास का महत्त्व बढ़ा है। सुमिता अपने जीवन में तीन-तीन से प्यार करते हुए यही गलती करती है कि वह उनकी सच्चाई नहीं समझी। उसके प्यार में प्रतिदान नहीं है, "मैंने हमेशा देने की कामना की थी, तुम्हें स्वेच्छा से अपना दिया भी। उसे प्रतिदान नहीं कहूंगी क्योंकि प्यार में प्रतिदान कभी नहीं होता। हम अपना प्यार देते हैं—एक-दूसरे का तौलकर नापकर नहीं।" (पृष्ठ २५-२६)।

लेखिका ने प्यार की अनेक तरह से व्याख्या की है। प्यार में उतार-चढ़ाव को परखा है। प्यार में समर्पण की भावना को व्यक्त किया है। प्यार में निष्ठा के भाव को देखा है। प्यार अधिकार सीमाओं में आता है। किंतु यहां सुमिता का प्यार समझौता मात्र रहा। महिम से समझौता पूर्वी के सुख के लिए, विशाल से अपने अधूरे मातृत्त्व के लिए, राम को त्यागना अपने पूर्व असफल प्रेमों का प्रति-

शोध लेना भर था। इस प्रकार उसके समझौते में सिर्फ देना ही देना है लेना नहीं।

पूरा उपन्यास लेखिका ने एक दिन की घटना को पूर्व स्मृतियों के आधार पर रचा है। दिन भर परिवार के कुछ ऐसे संदर्भ चलते हैं कि वह शाम तक शहर और परिवार ही छोड़ने का निश्चय कर लेती है। मानवीय भावनाएं तिरस्कार, प्रताड़ना आदि अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती है। अपने प्यार में अंतिम तिरस्कार उसे तब मिलता है, जब शहर छोड़ने से पहले वह सोनू से मिलने विशाल के घर जाती है। यही सोनू जिसे विशाल ने अजन्मी आत्मा का प्रायश्चित करने के लिए अपना बेटा सुमिता को दिया था। किंतु इस समय विशाल और उत्तरा के व्यवहार से ऐसा लगता है कि "वह उस चौराहे पर खड़ी है जहां न अपने अपने हैं न पराये अपने और इस दारूण स्थिति में वह स्वयं भी अपनी नहीं है।" (पृष्ठ १४७)। यह विशाल का ऊपरी दिखावा और छल था।

उसके दु:ख की, दर्द की अंतिम परिणति घर छोड़ने से पहले मां को लिखे पत्र से ज्ञात होती है। जिसमें उसने पूर्णरूप से स्वीकारा है कि उसे मां का अपनत्व नहीं मिला। भैया-भाभी का प्यार नहीं मिला। पिता जिसे मां के अभद्र व्यवहार ने पहले से ही घर छुड़वा दिया है। अब, जब वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र है, इस बात को समझती है, "समाज की दृष्टि में औरत के दो ही घर होते हैं, एक मां-बाप का और दूसरा पति का। मेरे पास दूसरा घर नहीं था पर उसका विकल्प अवश्य था। मैं अपने लिए एक घर जरूर बना सकती हूं जिसकी चौखट पर न पिता का नाम होगा न पति का। उसपर सिर्फ मेरा नाम होगा।" (पृष्ठ १८१)। इसी साहस के साथ समाज और परिवार के सामने एक आदर्श रखते हुए स्वाभिमानी लड़की की भांति लिखकर जाती है, "पीछे मुड़कर अब नहीं देखेगी क्योंकि अब तक वह पीछे मुड़कर ही तो देखती आयी थी। तभी तो उसने आगे देखने में इतनी देर कर दी थी।" (पृष्ठ १८८)।

आज के युग में तनुजा जैसी लड़कियां अविवाहित रहकर कर्मक्षेत्र में रहना चाहकर भी विवाह के लिए बाध्य होती हैं, सुमिता जैसी लड़कियां आत्मनिर्भर रहकर सारी मर्यादाओं, सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर अपना स्व का घर बनाने निकल पड़ती हैं। वही, नारी विकास के आगे की कहानी है, मणिका मोहिनी के उपन्यास **'पारू ने कहा था'** में। इस छोटी-सी किंतु भावमयी उपन्यासिका में लेखिका ने बताया कि विवाह-विच्छेद, उसके कारण एकांकी जीवन, बच्चे के लिए पिता का अभाव आदि ऐसी अनेक बातें आज की महिलाओं के समक्ष हैं, जो सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर अपने तथा बच्चे के विकास के लिए एक स्थायी समझौता कर सकती है। ऐसी विषम स्थिति में महिलाओं को पुनर्विवाह करना जरूरी है। लेखिका ने उपन्यास के माध्यम से नारी के लिए आज के युग की मांग

बतायी है। कथा का मूल आधार बच्चे के माध्यम से है, जो पापा के प्यार से वंचित है। इन्हीं विचारों को बड़े ही सुंदर, सारगर्भित इस छोटे-से उपन्यास में व्यक्त किया है।

लेखिका ने इस बात पर भी जोर दिया कि दो समान स्थिति वाले स्त्री पुरुष पुनः अपना नया जीवन प्रारंभ करते हैं तो परिवार की बहुत-सी समस्याएं हल हो सकती है। उपन्यास का पुरुष मात्र मनीष, जो कि सभ्य है, सुसंस्कृत है, तीन बच्चों का पिता एवं जर्मन पत्नी है, किंतु सांस्कृतिक विचारधारा एक न होने से उनका विवाह विच्छेद है। इसी प्रकार पारू की मम्मी जो कि अपने लेखक पति से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पायी। पुरुष तो सहज पुनर्विवाह कर सकता है, किंतु पारू की मम्मी के माध्यम से भारतीय नारी को पुनर्विवाह करने के लिए विभिन्न अंतर्द्वन्द्वों से गुजरना पड़ता है। युग कितना भी आगे बढ़े, किंतु नारी का पति ही सब कुछ होता है। चाहे तलाक हो, चाहे विचार मिले या नहीं, चाहे पति मर ही क्यों न जाये वही सब कुछ है। किंतु वर्तमान युग की इस समस्या के साथ आवश्यकता भी है, कि नारी बदलते परिवेश में अपने आपको ढाले।

मनीष और पारू की मम्मी की एक जैसी मनोदशाएं हैं। जहां पारू की मम्मी के लिए पारू ही सभी कुछ है वहीं मनीष भी कहता है, "...न जाने क्यों आपके बेटे को देखकर मुझे लगातार अपना बेटा याद आता रहा। वह भी इसी की तरह बेहद नाटी है।" (पृष्ठ १०-१३)। पारू के पापा के रिक्त स्थान के लिए भी कहता है, "...उसकी हर जिद को पूरी करना क्या आप सोचती हैं कि आप उसकी हर कमी को पूरा कर सकती हैं? उसे डैडी के प्यार की हमेशा कमी रहेगी, जो आप कभी पूरा नहीं कर सकेंगी।" (पृष्ठ १३)।

पुरुष या स्त्री कोई भी स्वावलंबी हो, किंतु प्रेम की भावना तो अमिट है। पुरुष जाति पर से उसका विश्वास उठ जाने के बाद वह भी कहता है, "मैं भी इस दौर से गुजरा था, जब मुझे पूरी स्त्री जाति से नफरत हो गयी थी। लेकिन समय के पास हर जख्म का इलाज है।" (पृष्ठ १६)। आज ऐसा ही समय है, नारी को भी उसी के साथ चलना है। इस समय उसके पास पारू की समस्या है। बच्चे के विकास में मां के साथ पिता का भी बराबर स्थान होता है। स्वयं पारू में बहुत समय से पापा के पास जाने की इच्छा समाई रहती है। मनीष से परिचय होने के बाद उसी में पापा के गुणों को देखता है। मनीष भी पारू में अपने बेटे रौबिन की झलक पाता है। दो समान दशाएं यहां आकर मिलती हैं। मनीष के लिए कहती भी है, "वह मुझसे अधिक पारू का दोस्त है।...मेरे पास, पारू के पास, हम दोनों को थामता हुआ स्तंभ की तरह, जैसे हम दोनों दो गिरती हुई दीवारें हों।" (पृष्ठ ३१)। इसलिए, "अब तो बस समझौते करते हैं जिंदगी के साथ, वक्त के साथ।" (पृष्ठ ३१)।

बाल-सुलभता के चित्र एवं उसकी मनोदशाएं पारू के कथनों से बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त हुई है, "मम्मी मैं तो पापा को भूल गया हूं। मुझे पापा की जरा भी याद नहीं आती। अब तो तुम भी पापा को भूल जाओ।" (पृष्ठ ४५)। इसी प्रकार "मम्मी आज जब अंकल मुझे स्कूल छोड़ने गये तो मेरे क्लासफैलो पूछ रहे थे, क्या यह तेरे पापा हैं? वो सोचते हैं, जैसे बस उन्हींके पापा हो सकते हैं। क्या मेरे पापा नहीं हो सकते? ...वो अपने पापा की शान मारते हैं। मैंने भी कह दिया—हां यह मेरे पापा हैं।...अंकल आप मेरे पापा बनेंगे ना।" (पृष्ठ ५५।)

संस्कारगत नारी पुनर्विवाह करने के लिए बहुत मानसिक अंतर्द्वन्द्वों से गुज़रती है, किंतु आवश्यकता है उसे अपने बच्चे का पूर्ण विकास करने की, उसके अभावों की पूर्ति करने की। इसी बात को समझकर आज के परिवेश में नारी इन सब रूढ़िवादी विचारधारा को तोड़ फेंकती है। दो वाक्यों में बात स्पष्ट हो जाती है, "हम दोनों ने साथ-साथ चलने के लिए एक रास्ता चुना था जो पसंद न आने पर छोड़ दिया था। रास्ता ही छोड़ा जा सकता था, चलना नहीं, इसलिए अलग-अलग चलने के लिए अलग-अलग रास्ते चुन लिए थे।" (पृष्ठ ६१)। और उसकी एक राह का यह छोर, बच्चे की खुशी के लिए मनीष से जा मिलता है।

इस तरह ये तीन उपन्यास आज की नारी की तीन मनोदशाएं हैं। यह तो मात्र उदाहरण है, किंतु इनके आधार पर सारे भारतीय समाज की अविवाहित एवं विवाह विच्छेद महिलाओं के चित्र देखे जा सकते हैं।

तीनों ही उपन्यासों के कथा-चित्र बड़े ही आकर्षक हैं। तीनों में बिखरी-बिखरी विचारधारा को एक-दूसरे में ढूंढ़ भी सकते हैं। जैसे 'उन शाखों पर' उपन्यास में नायिका का व्यक्तित्व प्रधान है, नायक को स्थान देना मुश्किल है। वही 'अजन्मी आतमा की बाहें' में नायिका तो प्रधान है ही, नायिका के साथ एक पर एक तीन-तीन नायक कहलाने के अधिकारी होते हैं, किंतु अंत में हम यह निष्कर्ष निकाल पाते हैं कि विशाल ही नायक हो सकता है। 'पारू ने कहा था' में मनीष एवं पारू की मम्मी को जोड़ने वाली कड़ी पारू ही है, इसलिए वही प्रमुख पात्र है। जहां तनु मां की मृत्यु के पश्चात् अकेली हो गयी, क्योंकि "घर में उन मां बेटी को देखकर उसे अक्सर अनुभव होता था जैसे दोनों एक दूसरे को थामें, सहारा दिये बमुश्किल खड़ी हों" (उन शाखों पर, पृष्ठ २०)। वही सुमिता मां के सहारे के लिए तड़फती है. "मैंने चाहा था मां तुम्हें मैं यह भी बता दूं कि इन अंधेरों में घिरकर मैं सहारों के लिए कितना भटकी हूं। किस तरह इस भटकन में मैं घुट-घुटकर जीने की असफल कोशिश करती रही हूं। इतना ही नहीं मां, सच तो यह था कि मैंने तुमसे, बस तुमसे ही तो कहना चाहा...तुम्हें पर बता नहीं सकी, क्योंकि कभी तुमने प्यार में बेटी न पुकारा और कभी तुमने प्यार से पुकार 'मां' शब्द नहीं सुना (अजन्मी आतमा की बाहें, पृष्ठ १-१३)।

तनु वैवाहिक जीवन की असफलताओं को देखकर अविवाहित रहना चाहकर भी उसमें सफल नहीं हो पाती, किंतु सुमिता असफल प्यार के कारण अविवाहित रहकर ही जताती है। औपचारिकताएं एवं रूढ़िवादिता भी सुमिता और पारू की मम्मी को एक लंबे समय तक बांधे रही। पारू की मम्मी कहती भी है "मैं नैतिक रूप से उन्हीं से बंधी हूं" (पारू ने कहा था, पृष्ठ २८)। सुमिता भी यही कहती है "न चाहकर भी वह इन लोगों से जुड़ा रहना चाहती है, इसका प्रत्यक्ष कारण यही था कि एक औपचारिकता हमेशा उसे बांधे रहती हैं। वह जानती है औपचारिकता के कारण व्यक्ति जी नहीं सकता।" (अजन्मी आत्मा की बाहें, पृष्ठ १०-११)। तनु आशा के यहां शादी में जाने की औपचारिकता के कारण अपना सर्वनाश ही कर बैठती है। मनीष और पारू की मम्मी का समझौता बराबरी का है, किंतु सुमिता के समझौते में देना ही देना है लेना नहीं। तनुजा का समझौता घटने वाली घटनाओं से हुआ। प्रतिमा वर्मा की नायिका तनुजा तो घटित घटनाओं के कारण प्रायश्चित की ओर उन्मुख ही होती है, किंतु सुभद्रा की नायिका सुमिता तो प्रायश्चित ही कर बैठती है, "जो उसकी जिंदगी में घटा है उसमें उसका हाथ तो कहीं नहीं रहा है, यह संतोष ही उसका सबसे बड़ा संतोष है।

आधुनिक परिवेश को उद्घाटित करने में इन उपन्यासों का महत्त्व है। किंतु कुछ ऐसी बातें हैं जो उपन्यासों में खटकती अवश्य है। जैसे **'पारू ने कहा था'** में अनाम नायिका का होना। वैसे यह आत्मशोध है किंतु नाम का कहीं संकेत भर भी नहीं है। दूसरे **'अजन्मी आत्मा की बाहें'**, जिसमें लेखिका ने अनावश्यक पत्रों का उपन्यास के मध्य वर्णन करके कथा-तत्त्व को दुर्बल कर दिया है।

ये तीनों ही उपन्यास आधुनिक युग के परिवेश को अपने में समाहित करते हैं। तीनों की तीन नायिकाओं के माध्यम से आज की नारी के तीन रूपों को इस प्रकार देख सकते हैं (१) संस्कार युक्त नारी के प्रयास (२) संस्कार और रूढ़ियों को तोड़ने वाली नारी, तथा (३) रूढ़िवादी होते हुए भी परिस्थितियों से समझौता करने वाली नारी। उपन्यासों में रचित नारी के ये तीन व्यक्तित्व आज के जटिल समाज के तीन कदम हैं।

१३, जवाहरगंज खंडवा (म० प्र०)

१. उन शाखों पर : प्रतिमा वर्मा आलेख प्रकाशन, दिल्ली-३२

२. अजन्मी आत्मा की बाहें : सुभद्रा : अलंकार प्रकाशन, दिल्ली-३३

३. पारू ने कहा था : मणिका मोहिनी : सरस्वती विहार, नयी दिल्ली-२।

तिमाही की विशिष्ट पुस्तक

धर्म पर प्रवचन या विवेचन :
हिन्दू-धर्म : जीवन में सनातन की खोज

अखिलेश्वर झा

हाथ में आने से पहले, विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक, **हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज**, की चर्चा मैंने अपने मित्रों से सुन रखी थी। उस चर्चा से मेरे मन में इस पुस्तक से बहुत आशायें बंध गई थीं। उनमें दो प्रमुख थीं, और दोनों हिन्दी और हिन्दू धर्म की वर्तमान दुर्दशा से जुड़ी हुई थीं।

मुझे अच्छी तरह मालूम है कि हिन्दी संसार के अधिकांश लेखक मेरे इस कथन को कि आज हिन्दी और हिन्दू धर्म दोनों पतनोन्मुख हैं कतई नहीं मानेंगे। इतना ही नहीं, वे मुझे दोनों का दुश्मन समझ बैठेंगे, और मेरी बातों को अनसुनी कर देंगे।

इसलिए मैं पहले स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि मैं किस अर्थ में हिन्दी और हिन्दू धर्म को एक दुर्दशा की स्थिति में पाता हूं।

पहले हिन्दी को ही लें। यह बात सही है कि गत तीस-चालीस वर्ष में हिन्दी पढ़ने लिखने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। परन्तु यह हिन्दी के लिए कोई विशेष बात नहीं है। सभी भारतीय भाषाओं में लिखने पढ़ने वालों की संख्या बढ़ी है। ऐसा दो कारणों से हुआ : एक, जनसंख्या में वृद्धि; दूसरा, साक्षरता में वृद्धि। पर यहां यह भी ध्यान रहे कि सिर्फ भारतीय भाषाओं में ही पढ़ने, लिखने वालों की संख्या नहीं बढ़ी है। इसके साथ-साथ भारत में अंग्रेजी में भी लिखने-पढ़ने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। इस हालत में हिन्दी के महाजनों की संख्या में वृद्धि से ही सन्तोष कर लेना एक तरह से कूपमंडूकता ही कहा जा सकता है।

परन्तु मूल बात संख्या की नहीं; उत्कृष्टता की है, भाषा में वैविध्य और शक्ति की है। दो तरह की शक्ति : एक, अपनी अन्दरूनी शक्ति; दूसरी, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विकास प्रक्रिया से जुड़े होने से उत्पन्न हुई शक्ति। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर हिन्दी की दुर्दशा स्पष्ट दिखायी देगी। हिन्दी सरकार के साथ अवश्य जुड़ी है, यदि सरकारी प्रश्रय को हम जुड़ना कहें। फिर भी राजनीति के साथ, शासन व्ययस्था के साथ, आर्थिक और सामाजिक विकास प्रक्रिया के साथ हिन्दी का एक दयनीय विलगाव है। इन सभी से अभी भी अंग्रेजी

जुड़ी हुई है। इसका सबूत किसी अंग्रेजी और किसी हिन्दी के दैनिक व साप्ताहिक अखबारों पर सरसरीतौर पर भी एक तुलनात्मक दृष्टि डालने से मिल जायेगा। अपने ही देश के मंत्रीगण, शासक, आफिसरान, उद्योगपति, बिजिनेस एक्जेक्यूटिक्स, वैज्ञानिक, टैक्नीशियन वगैरह, जिनके हाथ में असली सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक सत्ता है, वे सिर्फ अंग्रेजी के अखबार पढ़ते हैं, और उसी से प्रभावित होते हैं, हिन्दी के अखबारों से नहीं।

ठीक यही बात, बल्कि इससे भी कहीं अधिक, पुस्तकों पर भी लागू होती है। हिन्दी में जहां एक और उपन्यास, कविता और साहित्यिक आलोचना की पुस्तकों की भरमार है, वहीं दूसरी ओर विचार पुस्तकों का नितान्त दारिद्र्य है। प्रकृति विज्ञान तथा तकनीकी पुस्तकों की तो बात दूर, यहां तक कि हिन्दी में राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र, धर्म और संस्कृति आलोचना वगैरह जैसे विषयों पर भी किताबें नहीं छपतीं। ऐसा लगता है कि हिन्दी और अंग्रेजी ने भारत में अलग-अलग क्षेत्र चुन लिया है: किस्से कहानी और धर्म-कर्म हिन्दी में; ज्ञान-विज्ञान तथा सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक विषयों पर किताबें अंग्रेजी में। और दिलचस्प बात यह हैं कि अंग्रेजी भले ही चाहे हिन्दी के क्षेत्र पर उपन्यास और कविता की किताबें छापकर अतिक्रमण करे, परन्तु हिन्दी शायद ही कभी अंग्रेजी के चुने हुए क्षेत्र में दखलन्दाज़ करती है।

इस सन्दर्भ में मुझे विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक से आशा बंधी थी। इसकी चर्चा सुनकर ऐसा लगा था कि संभवतः यह पुस्तक हिन्दी में एक महत्वपूर्ण विचार-पुस्तक के रूप में अपने को प्रतिष्ठित कर पायेगी। परन्तु पढ़ने के बाद निराशा ही मिली। यह निराशा क्यों मिली, इसका स्पष्टीकरण तभी माकूल होगा, जब मैं अपनी दूसरी आशा की थोड़ी विवेचना कर दूं।

यह आशा बंधी थी, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की विवेचना को लेकर। जिस तरह मित्रों ने इसकी चर्चा की थी, उससे लगा था कि यह पुस्तक हिन्दू धर्म पर एक और प्रवचन न होकर एक निष्पक्ष विवेचनात्मक, राशनल (Raitonal) व्याख्या होगी। खासकर मैने उम्मीद की थी कि यह व्याख्या आधुनिक समाज की आवश्यकताओं और दबावों (Compulsions) के सन्दर्भ में होगी। मैंने यह उम्मीद की थी कि इस पुस्तक में कम से कम मैक्स वीबर की हिन्दू धर्म पर किताब का जिक्र होगा, और उसमें उठाये गये मुद्दों का खंडनमडन होगा।

परंतु पुस्तक पढ़ते-पढ़ते इस आशा पर भी पानी फिर गया। ले-देकर विद्यानिवास मित्र की यह पुस्तक भी हिंदू धर्म पर एक प्रवचन ही निकली। करीब-करीब उसी तरह का प्रवचन जो गीता प्रेस गोरखपुर की किताबों में होता है, या भारतीय विद्याभवन, या कि नवजीवन प्रेस की पुस्तकों में होता है। इसे तो

उसी किसी प्रेस से छपना चाहिए था। राधाकृष्ण प्रकाशन की पुस्तकों के साथ इसका कोई मेल नहीं खाता।

लेकिन, पुस्तक के पन्ने को एक बार फिर उलट-पलटकर देखने से लगा कि विद्यानिवास मिश्र ने अपने प्रवचन को एक खास आधुनिक विचार रूप देने का भरसक प्रयत्न किया है, जो हिंदी के साधारण पाठकों को चकमें में डाल सकताहै। यह प्रयत्न भूमिका में अंतिम अध्याय के अन्त में, और कहीं-कहीं क्षणिकाय रूप में पुस्तक के अन्य हिस्सों में भीं दिखायी देता है। पर हर जगह यह सीमित है सिर्फ प्रश्न उठाने तक। इन प्रश्नों के उत्तर में जो विवेचना है, वह दरअसल विवेचना नहीं, प्रवचन ही प्रवचन है। पर उन प्रश्नों से प्रवचन का रूप कुछ बदला हुआ अवश्य लगता है। हिंदी पाठकों के लिए, और हिंदुओं के लिए इन मुद्दों को उठा भर देना ही क्रांति मे कम नहीं है, उत्तर चाहे पारम्परिक प्रवचन ही हो।

भूमिका में विद्यानिवास मिश्र इस पुस्तक को लिखने के उद्देश्य का उल्लेख करते हुए लिखते हैं: "हिंदू धर्म पर इतनी पुस्तकों के होते हुए भी एक और पुस्तक लिखने का उद्देश्य मेरे सामने यही था कि हम अपने को आज के विश्व के संदर्भ में फिर जांचे, इसलिए भी जांचे कि निरंतर अपने धर्म को जांचते रहना इस धर्म की पहली मांग है।" (पृष्ठ:१६) इन पंक्तियों से आशा बंधती है कि प्रस्तुत पुस्तक में विश्व के संदर्भ में हिंदू धर्म की "जांच" की जायगी। आशा और भी प्रबल होती है आगे की पंक्तियों से: "हिंदू धर्म दुनिया में फैले, दूसरों को आलोक दे, इसकी चिंता न करके हम केवल यह चिंता कर सकें कि हम इससे क्यों नहीं आलोकित हो रहे हैं, हम क्यों दूसरों का मुंह जोह रहे हैं कि वे हिंदू धर्म की तारीफ करें तो हम अपनी पीठ ठोकें, हम क्यों सतही और कभी-कभी द्वेष या आत्महीनता से प्रेरित आलोचनाओं से घबराकर अपने धर्म से उदासीन बने हुए हैं, हम क्यों नहीं अपने हाथ से, अपनी कुल्हाड़ी से अपने निरंतर परिवर्त्तनशील धर्म की सूखी डालें काटने के लिए कदम बढ़ाते हैं, दूसरों द्वारा काटी गयी फल-फूल से लदी डाल के सूखे रूप को धर्म मानकर क्यों कुंठित है—इसी भाव को उकसाने के लिए यह छोटा-सा संकल्प मैंने लिया।"(पृष्ठ : १६)

काश! विद्यानिवास मिश्र अपने ही प्रश्नों का थोड़ा-सा भी संतोषजनक समाधान कर पाते। जब वे समाधान करने पर आते हैं, तो वह प्रवचन करने लग जाते हैं। और ऐसा इसलिए होता है कि वे या तो अपने ही प्रश्नों का गूढ़ और व्यापक अर्थ समझ नहीं पाते, या फिर उनका सामना करने से कतराते हैं। इसलिए उनकी शक्ति उन प्रश्नों के गूढ़ और व्यापक अर्थ के निकालने के लिए नहीं लगती, सिर्फ सीमित अर्थ में प्रवचनात्मक व्याख्या बनकर रह जाती है।

एक क्षण के लिए हम यह देखें कि इन प्रश्नों का गूढ़ और व्यापक अर्थ क्या हो सकता है। एक प्रश्न है—हम हिंदू धर्म से "क्यों नहीं आलोकित हो रहे हैं ?"

इस प्रश्न का भारत के गत हजार वर्षों के इतिहास के साथ गहरा और सीधा संबंध है। यह प्रश्न हिंदू संस्कृति, हिंदू समाज, और उनका आपस का संबंध और साथ ही धर्म से संबंध जैसे मुद्दों से जुड़ा है। परंतु सारी पुस्तक में विद्यानिवास मिश्र हिंदू धर्म की विवेचना समाज, संस्कृति, इतिहास वगैरह से बिल्कुल अलग रखकर करते हैं। उनके मुताबिक यदि हिंदू लोग हिंदू धर्म का सही अर्थ समझ लें—और स्पष्टत: लेखक के मुताबिक सही अर्थ वह है जो वह बताते हैं—तो हिंदू फिर से आलोकित होने लगेंगे।

कम से कम इतिहास तो ऐसा नहीं बताता। गत हज़ार वर्षों से हजारों हिंदू धर्म के व्याखाता, शास्त्रज्ञाता, और धर्म सुधारक आये और गये, पर हिंदू धर्म के पतनोन्मुख झुकाव को नहीं रोक सके। इसी शताब्दी में रामकृष्ण परमहंस से लेकर विवेकानंद, तिलक और अरविंद तक जैसे संत, महात्मा, धर्मप्रवर्त्तक हुए हैं, पर वे भी हिंदू समाज को वह आलोक देने में सफल नहीं हुए जिसमें हिंदू लोग वर्त्तमान संसार में अपनी अंदरूनी शक्ति का सर्जन कर सकते।

विद्यानिवास मिश्र पूछते हैं, "हम क्यों दूसरों का मुंह जोह रहे हैं?" जाहिर है कि हिंदू आज के वैज्ञानिक और मशीनी युग में अपने को आध्यात्मिक स्तर पर निस्सहाय पाता है, एक विचित्र अभाव की पीड़ा अनुभव करता है, जिसकी पूर्ति की मांग को भी प्रस्तुत पुस्तक पूर्णतया दरकिनार कर देती है। कौन हैं वे दूसरे जिनका मुंह हिंदू जोह रहे हैं? कौन वे हिंदू हैं जो दूसरों का मुंह जोह रहे हैं? इन प्रश्नों में मिश्र जी नहीं उलझते। पर इतना तो अवश्य है कि ये स्वयं किसी दूसरे का मुंह नहीं जोहते, क्योंकि हिंदू धर्म में इनकी आस्था अडिग है, अत्यन्त गहरी है और पुस्तक को लिखकर यह और भी अधिक तृप्तिदायक हुई है। "मैं इस पुस्तक के द्वारा," मिश्र जी लिखते है, "दूसरों को उकसा सकूंगा या नहीं, यह नहीं जानता, पर यह जानता हूं कि इस उकसाव के कारण मैं अपने को हिंदू मानते हुए तृप्ति और आश्वस्तता कुछ अधिक मात्रा में अनुभव करने लगा हूं।" (पृष्ठ : १७)

ऐसा तो हमेशा से होता आया है हिंदू लोगों के बीच। आम हिंदुओं को आश्वस्तता हो या न हो, विवेकानंद, अरविंद, गांधी, विनोवा और पंडित विद्यानिवास मिश्र को तो आश्वस्तता और तृप्ति मिली ही है। और उन्हें ही क्यों? महर्षि महेश योगी, भगवान रजनीश, सत्य श्री सांई बाबा, भगवान बाल योगेश्वर योगी, आदि दृष्टाओं को भी हिंदुत्व से तृप्ति और आश्वस्तता मिली है। आम हिंदू लोगों की बात करना ही व्यर्थ है।

पर विडंबना यह है कि इतिहास और सभ्यता के विकास में, चढ़ाव उतार में, व्यक्ति विशेष की बड़ी सीमित भूमिका होती है, और आम लोगों की कहीं अधिक। क्योंकि वे शक्तियां जो इतिहास और सभ्यता को नया मोड़ देती हैं

वे आम लोगों की भावनात्मक, बौद्धिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं के निर्मम दबाव से पैदा होती हैं। उन्हीं में से व्यक्ति विशेष भी निकलता है, और उन्हीं में फिर विलीन भी हो जाता है। पर मिश्र जी के लिए स्पष्टतः हिंदू धर्म एक व्यक्ति विशेष का धर्म है, जो कोई नयी बात नहीं है। हमेशा से हिंदू धर्म व्यक्ति विशेष का धर्म रहा है। सच तो यह है कि हिंदू धर्म में हर व्यक्ति दूसरों से अलग एक विशेष, अपने में संभावित रूप से पूर्ण व्यक्ति है। हर मनुष्य परमात्मा का अंश है, और परमात्मा की तरह विशिष्ट है। मनुष्य की मुक्ति इसी जन्म की प्राप्ति में है। फिर ऐसी स्थिति में, हिंदू धर्म में सामूहिकता का, ऐतिहासिक शक्तियों का, आर्थिक और राजनैतिक संगठनों का क्या महत्त्व रह जाता है? हिंदू धर्म, इन सबसे परे, जैसा कि मिश्र जी भी बताते हैं, कभी नहीं बदलने वाला धर्म है, सनातन है। इसका न आदि है न अन्त।

और यदि ऐसा है तो फिर इसके ह्रास का प्रश्न ही नहीं उठता। पर मिश्र जी के अपने प्रश्नों में, "हम क्यों नहीं आलोकित हो रहे हैं?" और "हम क्यों दूसरों का मुंह जोह रहे है?" इसके ह्रास की स्वीकृति निहित है, और सारी पुस्तक इसी की छानबीन करने के लिए लिखी गयी है कि इस ह्रास को किस तरह रोका जाये और हिंदू धर्म किस तरह फिर से उजागर हो।

यह छानबीन महत्त्वपूर्ण होती यदि मिश्र जी हिंदू धर्म के उन लक्षणों और तत्त्वों की व्याख्या कर पाते, जिनके कारण इस धर्म का अधःपतन हुआ है, और अभी भी होना है। परंतु सनातन की खोज में पंडित जी हिंदू धर्म के उसी पक्ष को अपनी विवेचना की मुख्य विषय वस्तु (theme) बनाते हैं जो इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है, और जिसके कारण इसकी अधोगति हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक में शुरू से अन्त तक इस केन्द्रीय विषयवस्तु को रह-रहकर अनेक तरह से दोहराया जाता है।

भूमिका की प्रथम पंक्ति है, "हिंदू धर्म वर्त्तमानजीवी धर्म है, वह सत्य और ऋत का गठबंधन है।" (पृष्ठ : १२) प्रथम अध्याय में मिश्र जी लिखते हैं, "हिंदू धर्म में···किसी निश्चित विश्वास पर बल नहीं दिया गया है। धर्म वस्तुतः जीने का तरीका है। वह विश्वासों से अधिक जोने की प्रक्रिया पर आधारित है।" (पृष्ठ : १९) दूसरे अध्याय में फिर आता है, "हिंदू धर्म, क्योंकि जीने का एक प्रकार है···" (पृष्ठ : ३३) आगे के तीन अध्यायों में भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिपादन कि हिंदू धर्म "जीने की एक प्रक्रिया है" हर जगह मौजूद है, और इसी आधार पर मिश्र जी हिंदू धर्म के सामान्य लक्षण, स्वरूप, यज्ञ, उपासना, भक्ति, तीर्थ, पर्वोत्सव तथा लोकशास्त्र की विवेचना करते हैं। यानि कि सारी पुस्तक इसी को साबित करने के लिए लिखी गयी है कि हिंदू धर्म "जीने की एक प्रक्रिया है," और यह मानकर लिखी गयी है कि यही हिंदू धर्म

का सबसे बड़ा बल है, इसी के कारण यह सनातन है, और रहेगा। स्पष्ट है मिश्र जी हिंदू धर्म की अपनी इस परिभाषा को नवीनतम और क्रान्तिकारी परिभाषा के रूप में पेश करते हैं जो मिश्र जी के मुताबिक आधुनिक जीवन के दबाव और रुचि के अनुरूप है। चूंकि आधुनिक जीवन में चारों ओर स्वतंत्रता और स्वच्छंदता की ललक है तो मिश्र जी अपनी क्रांतिकारी परिभाषा के आधार पर हिंदू धर्म की विवेचना करके यह दिखाना चाहते हैं कि हिंदू धर्म रूढ़ियों और नियमों से बिल्कुल मुक्त है। इसमें स्वच्छंदता ही स्वच्छंदता है। यहां तक कि इस धर्म में किसी ईश्वर पर भी विश्वास की आवश्यकता नहीं है। मिश्र जी के शब्दों में :

"मजहब (या रिलिजियन) का अर्थ है कुछ निश्चित विश्वास, जिन्हें न मानने से आदमी उस मजहब की सदस्यता को खो देता है। हिंदू धर्म में इस प्रकार के किसी निश्चित विश्वास पर बल नहीं दिया गया है। धर्म वस्तुतः जीने का एक तरीका है। वह विश्वासों से अधिक जीने की प्रक्रिया पर आधारित है।" (पृष्ठ : १९)

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हिंदू धर्म विश्वास-विहीन धर्म है, और सिर्फ जीने की प्रक्रिया है। पूरी पुस्तक में कहीं भी मिश्र जी पारंपरिक हिंदू विद्वानों की तरह "जीने की प्रक्रिया" की थोड़ी-सी भी व्याख्या नहीं करते। यह नहीं कि ऐसी किसी व्याख्या की आवश्यकता है, क्योंकि इसका अर्थ तो स्पष्ट है। "जीने की प्रक्रिया" मूलतः एक बायोलाजोकिल प्रक्रिया है : जन्म लेना, बढ़ना, युवा होना, यौन-संभोग करना, परिवार बनाना, खेती-बारी करना, स्वस्थ रहना, इंद्रियों का सुख लेते रहना, बूढ़ा होना और फिर मर जाना। यह तो एक बायोलाजीकिल प्रोसेस है जो मनुष्य और पशुपक्षियों में समान है।

परंतु मनुष्य को पशुपक्षियों से अलग करने के लिए मिश्र जी इस प्रक्रिया को हिंदू धर्म की शास्त्रीय-विधान-युक्त रीतियों से और रिवाज़ों से जोड़ते हैं। इसे अनुष्ठानों, संस्कारों, यज्ञों, उपासनाओं तथा लोक शास्त्रों से जोड़ते हैं, पर इन सबमें भी विश्वास का कोई स्थान नहीं बताया जाता है। ये संस्कार यज्ञ तथा उपासना संबंधी रीति-रिवाज दरअसल "जीने की प्रक्रिया" को और अधिक सुखद और आनन्ददायक बना देते हैं। सुबह स्नान का सुख, इन्द्रियों के आनन्द से इंद्रियों से ऊपर उठने की अनुभूतियों का सुख, यौन-संभोग का सुख, हिंदू धर्म के रीति-रिवाज़ों को पालन करने से और भी अधिक उत्तेजित, और भी अधिक पूर्ण हो जाता है। इस तरह हिंदू धर्म पर ऐसा कोई बंधन नहीं है जो "जीने की प्रक्रिया" के आनन्द या परमानन्द में खलल डालता हो। इसलिए मिश्र जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, और पहुंचकर आश्वस्त हैं कि सनातन हिंदू धर्म अमर रहेगा। दरअसल मिश्र जी को इसका सबूत भी वर्त्तमान संसार में मिल रहा है :

कोरिया, जापान, बाली द्वीप और अमेरिका में रहने वाले प्रवासी हिंदुओं में। सिर्फ भारत में इसकी हालत अच्छी नहीं है, जिसका कारण स्वयं हिंदू धर्म में कोई कमज़ोरी नहीं है। 'यह तो' मिश्र जी लिखते हैं, "सत्ता के लोभ के कारण है, या बौद्धिक दिवालियेपन के कारण।" (पृष्ठ : ८६)। आशय यह हुआ कि भारत में रहने वाले हिंदू यदि सत्ता के लोभ को छोड़ दें और अपनी बुद्धि से "जीने की प्रक्रिया" को आत्मसात कर लें और उसी तक अपने को सीमित रखें तो फिर वे भी आलोकित हो उठेंगे।

यदि ऐसी बात होती तो गत हजार वर्ष का भारत का इतिहास ही दूसरा होता। हिंदू अभी उसी तरह आलोकित होते रहते जैसे वे हज़ार वर्ष पहले थे।

परंतु बात ऐसी नहीं है। सच्चाई यह है कि हिंदू धर्म की जिस परिभाषा को मिश्र जी इसकी सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं, वही इसकी सबसे बड़ी दयनीय कमज़ोरी रही है। यदि हिंदू धर्म सिर्फ "जीने की प्रक्रिया" है, और इसमें ईश्वर में विश्वास का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि हर कोई अपने में ईश्वर है या ईश्वर बनने की संभावनायें रखता है, तो इसमें फिर बौद्धिक, सामाजिक, और राजनैतिक मूल्यों का कहां स्थान है? कहां और किस तरह की नैतिकता रही इसमें? जन्म से मरण तक की समस्याओं का, यानि कि संसार में जीने का क्या महत्त्व रह जाता है हिंदू धर्म में? देश, काल, इतिहास, विज्ञान वगैरह की तो बात ही अलग है।

संयम और अनुशासन कड़वे भले ही हों और स्वच्छंदता भले ही मनुष्य को आकर्षित करती हो, परंतु सच्चाई तो यह है कि वर्त्तमान सभ्यता का पूरा विकास ही संयम और अनुशासन पर आधारित है। इसका सबूत गत दो हज़ार वर्षों का इतिहास है। क्रिश्चियन धर्म की उन्नति, और क्रिश्चियन संस्कृति से अद्‌भुत कलात्मक, साहित्यिक और वैज्ञानिक उपलब्धि इसका साक्षी है कि संयम और अनुशासन से सच में अपार मानवीय शक्ति पैदा होती है। पर यह मानवीय शक्ति सिर्फ "जीने की प्रक्रिया" तक ही सीमित नहीं है। यह मनुष्य के बौद्धिक, भावनात्मक, आध्यात्मिक तथा सर्जनात्मक प्रक्रियाओं को भी बल देती है। जिसका फल है आज की यह बीसवीं सदी की अंतर्राष्ट्रीय सभ्यता। और इस सभ्यता का फैलाव इतना प्रबल है, और इतना सूक्ष्म रूप से मानवीय इच्छाओं के अनुरूप मनोवैज्ञानिक है, कि कम से कम हिंदू धर्म तो अधिक दिन इसके सामने नहीं टिक सकता। विश्वास के स्तर पर आज हिंदू त्रस्त है, और वह जहां भी इसे देखता है वह उसे संदिग्ध होकर देखता है, पर बरबस उसकी ओर देखता भी है। दूसरे अन्य किसी धर्म के मानने वालों के लिए यह मानसिक और आध्यात्मिक द्वंद्व नहीं है। जैन, बौद्ध और सबसे अधिक सिक्ख धर्म के मानने वाले को क्रिश्चियन धर्म से उपजे वर्त्तमान सभ्यता से कोई खतरा नहीं है।

मिश्र जी, दुर्भाग्यवश, पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के ड्राप-आउट लोगों को वहां के मेनस्ट्रीम वाले लोग मान लेते हैं। ये हिप्पी, कृष्णा कन्ससनेस के अनुयायी, महेश योगी, रजनीश और सांई बाबा के विदेशी अनुयायी वहां के समाज के ड्राप-आउट्स हैं, जो संयम और अनुशासन की जीवन-नीति से तंग आ गये हैं, और वे उनसे स्वच्छंदता चाहते हैं, जो उन्हें हिंदू धर्म में मिलती है। पर उनके पीछे राजनीति भी है, और बहुत हद तक अर्थनीति भी है। एक तरह से वे हिंदू धर्म के साथ रोमांस कर रहे हैं। अधिकांश लोगों का जब रोमांस खत्म हो जाता है तो वे फिर अपने क्रिश्चियन समाज में वापिस चले जाते हैं। पर उस समाज में इन ड्राप-आउट्स का कोई भी महत्त्व नहीं है। उनके पास धन है, समय है, संसार पर प्रभाव है तो हिंदू धर्म के साथ वे थोड़े समय के लिए रंगरेलियां कर लेते हैं।

मिश्र जी की मूल कमजोरी इस पुस्तक में वही है जो हिंदू धर्म और इसके प्रचारकों व दार्शनिकों की रही है, वह है हिंदू धर्म के पहलुओं की बौद्धिक विवेचना न करके उस पर प्रवचन करना, उसे ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक विकास प्रक्रियाओं से न जोड़कर सिर्फ पौराणिक हिंदू धर्म ग्रंथों से जोड़ना। इस स्थिति में बौद्धिक विवेचना के लिए कोई जगह नहीं रह जाती। इसे देखते हुए तो मिश्र जी का इतना कुछ भी इस पुस्तक में कर पाना एक उपलब्धि ही मानी जानी चाहिए। यदि दूसरों को उकसाना ही उनका लक्ष्य था, तो जाहिर है उस लक्ष्य की उन्होंने पूरी प्राप्ति कर ली है।

एफ १०/१४ माडल टाउन, दिल्ली-११०००९

चर्चित पुस्तक—हिंदू धर्म : जीवन में सनातन की खोज, लेखक—डॉ० विद्यानिवास मिश्र, प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, नयी दिल्ली-२

कुछ किताबें : मेरे मन का चुनाव

कन्हैयालाल नंदन

इन दिनों मैं 'भद्रपुरुष' पढ़ता रहा। रवीन्द्रनाथ त्यागी को पढ़ना यों भी सुखकर होता है लेकिन भद्रपुरुष पढ़ने के पीछे एक घटना थी। पिछले दिनों एक यात्रा के दौरान मैंने देखा कि एक आदमी किसी पुस्तक का परायण कर रहा है और दस बारह आदमी उसे घेरे हुए 'ध्यानावस्थित तदगतेन मनसा' मुद्रा में उसे सुन रहे हैं और लगभग हर दूसरे वाक्य पर ठहाके लगा रहे हैं। मैं डिब्बे के दूसरे छोर पर था। ठहाकों के इस अनवरत रेले को रेल में सुनकर और दूसरे यात्रियों की तरह इधर-उधर ताक कर बैठ जाने के बजाय मैं उस ठहाका केंद्र तक गया और एक पुस्तक पर ठहाके लगते देख चित्त प्रसन्न हुआ कि एक पुस्तक इतने आदमियों को एक साथ इतना सुख दे रही है। भाषा का मंजाव और विषय ऐसा था जो किसी सस्ते ढंग के तथाकथित साहित्यकार की क्षमता के बिल्कुल परे था। थोड़ा-सा गौर करने पर लगा कि यह भाषा-शैली रवीन्द्रनाथ त्यागी की मालूम पड़ती है और मेरा अटकल सही निकला। वहां रवीन्द्रनाथ त्यागी की पुस्तक 'भद्रपुरुष' जो अभी-अभी नयी आयी है, उसका पारायण हो रहा था।

त्यागी जी की 'भद्र पुरुष' की पहचान की एक कसौटी आपकी जानकारी के लिए भी यहां दे रहा हूं। "भद्रपुरुष उस पुरुष को कहते हैं जो कि भद्र होता है। यदि ये लोग न होते तो इस असार संसार की आधी मुसीबतें खुद ब खुद हल हो जातीं। बदमाश आदमी से आप निबट सकते हैं पर यह जो भद्र पुरुष होता है। वह हमेशा आपको मात दे जाता है। वह इतना शरीफ होता है, कि आप उसे कभी डांट नहीं सकते, चाहे उसकी वजह से आपको भले ही डांट पड़ जाये। वह इतना असहाय और विनयी दिखाई देता है कि आप अपना पैसा उससे कभी वसूल नहीं कर सकते। जबकि और कोई होता तो सरे बाजार आप उसकी गर्दन पकड़ लेते। भद्र पुरुष की तो पत्नी तक उसे इस कारण नहीं छोड़ती, क्योंकि वह भद्र हैं।"

इस प्रकार त्यागी जी भद्र पुरुष नाम के प्राणी की छीछालेदर के बहाने समाज के उन सारे गलीज तबकों की खबर लेते चले जाते हैं, जिन्होंने इस रहने काबिल समाज नाम की संस्था के चेहरे पर कोलतार पोता हुआ है। श्री रामावतार चेतन ने त्यागी जी के व्यंग्य के संदर्भ में लिखा है कि त्यागी जी के

हाथों में पड़कर शब्द शहतूत के फलों की तरह रस देने लगते हैं। रेलगाड़ी का जो वाकया मैंने अभी बयान किया है उसमें यही शहतूत के फलों का रस सार्वजनिक रूप से वितरित किया जा रहा था। सुखकर यह है कि त्यागी जी के विषय की विविधता जिंदगी के हर पहलू से आती है और उसके विश्लेषण में उनके नानाविध ज्ञान की चासनी रस को पुटपाक की, तरह परोसती है। कहीं कोई सस्तापन नहीं और न कहीं कोई कलुष···जिंदगी से सीधे सरोकार के क्षणों में विसंगतियों पर एक जागरूक 'भद्र पुरुष' की आंतरिक कचोट त्यागी जी का व्यंग्य है। इस भद्र पुरुष की ऐसी सफलता पर बधाई और बधाई पराग प्रकाशन को, जिसने ऐसी श्रेष्ठ साहित्यिक व्यंग्य कृति का प्रकाशन किया।

'पराग प्रकाश' का जिक्र आता है तो पुस्तकों के जानकार पाठकों के मन में उस प्रकाशनगृह की सुरुचिपूर्ण प्रकाशन सज्जा का रूप उभरने लगता है। अच्छे ढंग से पुस्तकों को प्रकाशन देकर पठनीयता के साथ पुस्तक को दर्शनीयता प्रदान करने की इस परंपरा को अब एक नयी क्रांति दी है बिल्कुल नये प्रकाशक 'अभिव्यंजना' प्रकाशक ने, जिनकी एक काव्य पुस्तक 'धुएं का सच' अभी-अभी देखने को मिली है। कहना न होगा कि पुस्तक का आद्यंत स्वरूप प्रकाशित सामग्री को अतिरिक्त गरिमा मंडित करने में सहायता करता है। काव्य पुस्तक की रचनाकार हैं श्रीमती कुसुम अंसल, जो महिला कथाकारों में अपना प्रतिष्ठित स्थान बना चुकी हैं। उनकी कविताएं आकार में छोटी हैं लेकिन उनकी अनुगूंज मन के आकाश में काफी दूर तक फैलती महसूस होती है। एक धुएं-धुएं से व्यक्तित्व की स्मृतियों में डूबी लगभग सारी कविताएं एक ऐसी यात्रा पर पाठक को निकालकर ले जाती हैं जो भावुकता के छोर से शुरू होकर जिंदगी के आखिरी सच से जोड़ देती हैं···

"जीवन में धुआँ और
धुएँ में जीवन की पहेली सुलझाती हुई
पहुँच गयी हूं, उस बिंदु पर
जहाँ लगता है
जीवन और मरण के बीच
सिर्फ चिताएँ हैं
धू-धू कर जलती हुई
जिनके किनारे बैठी हूँ मैं···"

इस शाश्वत दार्शनिक विश्राम और यात्रा के मध्य के अनेकानेक विरामों के बीच जीवन की सार्थकता की तलाश में एक संवेदनशील मन की अतृप्त वेदना है जो बार-बार किसी प्राप्ति के क्षण में भी अभाव को और अधिक गहरा कर जाती है। आत्मीय संदर्भों से गहरे जुड़ी हुई कुसुम अंसल की कविताएं एक एकांकी मन

की गूंज और अनुगूंज का एकालाप भी लगती हैं जिनमें आज के सामाजिक सरोकार लगभग नहीं के बराबर ध्वनित होते हैं। इन्हें कुसुम अंसल ने अपने मन और अपने जीवन के बीच एक निरंतर संवाद कहा है। इस निरंतर संवाद के बीच एक भावना को पकड़ पाने का प्रयास है जिसने मन के भीतर कुछ बोया अवश्य है। उस बोने के बाद जो कुछ उगता है उसके भीतर की नयी अंतर्दहन की क्रिया-प्रक्रिया से उत्पन्न उमस बनकर बेचैन करती है। वही बेचैनी इस निरंतर चलने वाले संवाद के विराम-स्थल हैं जिनकी सहजता और सादगी परंपरागत मानसिकता के खोखले और विद्रूप होते चले जाने की नियति को पाठक के मन की पृष्ठभूमि में उभारती चलती है। संबंधों के धुंधले आकारों में से जिंदगी के सच को तलाशने के इस क्रम में धुआं देने वाली आग की कुछ ऊष्मा बेशक बड़ी साफ है :

"तुम जो भी कहते हो
आग हो जाता है
और फिर वह मुझे हर पल तपाता है
मैं भी हूँ कि तपती हूँ
हर पल हर सांस
जल जाने में ही किये बैठी हूँ विश्वास
तपने का
अंतर्दहन का यह एहसास
कितना प्यारा है
क्योंकि आग की इस बीमारी को
मैंने खुद ही स्वीकारा है।"

कुसुम अंसल की ये कविताए. जिंदगी की भौतिक जद्दोजहद और अस्तित्व के संघर्षों से जुड़ कर कुछ और सच उजागर करतीं तो उनके धुएं की सचाई और भी बड़ी हो जाती जो जिंदगी का पाथेय भी बनती चलतीं।

इस संदर्भ में अगर देखते हैं तो एक ताजा कविता संग्रह 'उज्ज्वलनील रस' भावुक मन को जिंदगी के संघर्षों के आईने में झांककर एक नये सच से मुखातिब कराने में दस्तावेज बनकर उभरता है। कवि है केशव कालीधर। नयी कविता के समर्थ रचनाकारों में केशव जी का नाम आदर से लिया जाता रहा है लेकिन उनकी कविताएं उनके व्यंग्य के केनवास पर खोयी-सी रहती हैं। इस संग्रह को पढ़कर निश्चय ही पाठक केशवचंद्र वर्मा को भूलकर उनके शुद्ध कवि रूप केशव कालीधर को ही याद रख पायेगा। पौराणिक प्रसंगों की प्रत्यंचा पर चढ़ाकर केशव जी ने जिंदगी को जिन तीरों की तेजी दी है, वह उनके सामाजिक सरोकारों का औचित्य भी दिखाता है और उनकी सार्थकता भी। भाषा का ऐसा

साहित्यिक रचाव आज के अधिकांश कवियों में लगभग नदारद है।

कथ्य के संदर्भ में बोलूं तो कुछ पंक्तियां दस्तावेज हैं। दस्तावेज़ कहने की रस्म न मानें इसे, अपनी बात कहने के लिए उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत करना चाहूंगा। कविता है, "आज मैं तुम्हें चुप नहीं करूंगा !"

"रो मेरे बच्चे !
आज मैं तुझे चुप नहीं करूंगा।
इस मरण पर्व में
जिस दीप्ति शिखा पर
तू सिर धुन रहा है
एक चुटकी राख है…
रो मेरे बच्चे
आज मैं तुझे चुप नहीं करूंगा।"

उसी कविता का एक चित्र देखिए :

"तेरे सेब जैसे गालों पर
गलती हुई मोमबत्ती
उसका अंत घोषित करती है
जो सहज साधारणता को
भरम की जरी में बुन कर
किसी निजी सत्य को
मूर्त करने का
संकल्प किया करता था
रो मेरे बच्चे
आज मैं तुझे चुप नहीं करूंगा
हर संकल्प जब इस घड़ी से टकराता है
तो ढंके हुए हिरण्य पात्र का मुख
अकस्मात खुल जाता है…

एक लंबी कविता के ये छोटे-छोटे अंश केशव कालीधर की भाषा, सामाजिक सरोकार, आधुनिक जीवन के विसंगत चेहरों की पहचान में उनकी पकड़ का एक मामूली-सा थर्मामीटर माने जा सकते हैं जिसके सहारे उनके संग्रह की समूची ऊष्मा की ऊंचाई तक पहुंचा जा सकता है। ऐसे संग्रह वर्ष में एकाध भी आ जाते हैं तो लगता है कि कविता का मुहावरा अभी बांझ नहीं हुआ और न हमारी विगत पीढ़ी का सोच अभी भोथरा हुआ है, जिसकी शिकायत अक्सर आज का नया कवि करने से नहीं चूकता। केशव कालीधर की कविताओं की आग ज्वालामुखी की तरह फटती नहीं, उबाल कर अदहन को गिराती नहीं, सोच की अंगीठी

को धधकाती हुई एक नियंत्रित अग्नि का रचनात्मक संकल्प उपस्थित करती है।

नियंत्रित अग्नि के रचनात्मक संकल्प को गद्य में ढूंढ़ते हुए मैं टकराया एक ऐसे नाम से जिसका कहानी संग्रह 'औपचारिक अंतकरण' शीर्षक से अभी हाल ही प्रकाशित हुआ है। कहानीकार हैं श्री राजेंद्रकुमार मिश्र। कथा कहने की उनके पास बड़ी सीधी-सादी शैली है, मगर कहानियां हैं कि अपने परिवेश की विसंगत जीवन-प्रणाली को बितुन कर रख देने वाली बिनौला-मशीन हैं। इस मशीन पर उनके पात्र धुनकी की चोट खाकर तार-तार होते हैं और उस तार-तार होने में पारदर्शी हो जाते हैं जिनका चेहरा आर-पार झांका जा सकता है। सहज, अनायास चलने वाली भाषा का प्रवाह, आज के जीवन के अनुरूप कथा-मुहावरा, बिना किसी लाग-लपेट के तटस्थ तमाशबीन जैसा घटनाओं का ब्यौरा और उसके बीच से उभरती हुई हमारी आपकी आज की तस्वीर ! पढ़ने में ऐसा रंजन कि आज की कहानियों पर आमतौर पर चिपका देने वाला फिकरा कि आज की कहानी पठनीय नहीं होती, झूठा पड़ता चला जाता है।

एच—७ हौज खास एक्स, नई दिल्ली—१४

चर्चित पुस्तकें

- भद्र पुरुष—रवीन्द्रनाथ त्यागी, पराग प्रकाशन, दिल्ली
- धुएं का सच—कुसुम अंसल, अभिव्यंजना, नयी दिल्ली
- उज्ज्वलनील रस—केशव कालीधर, किताब महल, इलाहाबाद
- औपचारिक अंतःकरण—राजेन्द्रकुमार मिश्र, मध्य प्रदेश साहित्य परिषद्, भोपाल

पंजाबी कहानी

खेल

गुल चौहान

......और फिर सब कुछ चुप हो गया था। चौक में लगे लाउडस्पीकर बन्द हो गये थे। चाय की दुकानों पर बैठी टोलियां बिखर गयी थीं और अमली दूर साधू के डेरे की ओर चला गया था, जहां शराब, अफीम की बजाये उसने फिर से भंग की पत्तियों को हथेलियों पर मसलना शुरू कर दिया था।

दीवारों पर लगे पोस्टर निरर्थक होकर रह गये थे। झंडियों की बाढ़ मन्द हो गयी थी। यह खेल बहुत दिनों तक रहा था!

आज जैसे ही लोग जागे, लाउडस्पीकर फिर से बोलने लगे थे---वोट फार सफेद कुत्ता। वोट फार काला कुत्ता! सफ़ेद कुत्ता मुर्दाबाद! काला कुत्ता जिन्दाबाद! काला कुत्ता मुर्दाबाद! सफेद कुत्ता जिन्दाबाद!

इस प्रकार जब बोलने वाले तैश में आ जाते हैं तो ऐसा लगता कि वास्तविक कुत्ते भौंक रहे हों—एक ही सांस में।

लोग एक पल तो चकित से रह गये। जिस तरह कि पिछले दिनों के सारे जानलेवा शोर से लोग तंग आ चुके थे। किन्तु यह भी था कि कुछ लोग खुश भी थे कि वातावरण में फिर से जान-सी आ गयी थी।

और लोगों ने देखा कि अमली दोपहर तक चौक में लौट आया था। उसने दाढ़ी के खत नये सिरे से बनवाये थे, उसकी आंखों में फिर एक चमक आ गयी थी।

वह सफेद कुत्ते के चुनाव निशान वाली पार्टी के दफ्तर में घुस गया था। शाम को लोगों ने देखा कि वह धुत्त हुआ चौक में खड़ा था और कान पर हाथ रखकर ऊंचे स्वर में गा रहा था:

जिवें लाडले पुत्तां नूं मांवां
कबरां उडीकदीयां पूरना,
अखियां' च रब वसदा,
कोई दूर ना...।

बात इस प्रकार हुई थी कि चुनाव के पश्चात् चौबारे वालों और हवेली वालों में गहरी झड़प हो गयी, तो उनके बच्चों में भी स्वाभाविक रूप से तैश आ गया था।

और फिर पता नहीं, कब और क्यों, नम्बरदार और सूबेदार के लड़कों ने चुनाव लड़ने का निर्णय कर लिया था। पहले चुनाव के झंडे बचे पड़े थे और पोस्टर भी। उन दोनों के घर वालों ने तो कहा था कि वे वहीं बचे हुए झंडे और पोस्टर प्रयोग में लाकर चुनाव लड़ लें। आखिर बच्चे, बच्चे होते हैं, वे ज़िद्द पकड़ गये थे।

सारे गांव के लड़के कुछ इधर आ जुड़े थे, कुछ उधर। उन्होंने यह भी निर्णय किया था कि, क्योंकि कई बच्चे बहुत ही छोटे होंगे इसलिए चुनाव निशान एक ही हो, केवल उसके रंग अलग-अलग हों ताकि सबको आसानी से पता चल जाये। और फिर उन्होंने चुनाव निशान कुत्ता चुन लिया था।

नम्बरदार के लड़के का चुनाव सफेद कुत्ता था। सूबेदार के लड़के का काला···। वैसे उम्मीदवार तो लाल, नीले, हरे तथा पीले कुत्ते वाले भी थे, पर विशेष रूप से मुकाबला सफेद और काले कुत्ते के बीच ही था।

उनके समर्थकों ने ड्राईंग की कापियों के पृष्ठ फाड़ फाड़कर पोस्टर बनाने आरंभ कर दिये थे, चुनाव प्रचार जोरों से होने लगा था। लड़कों की एक टोली 'सफेद कुत्ता जिन्दाबाद' कहती हुई इधर हो लेती तो दूसरी—'काला कुत्ता जिन्दाबाद' कहती हुई उधर को।

अमली फिर से धुत होकर ढोले गाने लगा था। बीच में से कोई टोकता—"अमलीया, फिर क्या कर दिया है यह?"

—"इलैक्शन है, भाई! तुझे नहीं दिखता।"

पिछली बार भी अमली चौक में छाया रहा था। वह दो दिन एक पार्टी के कार्यालय में होता, दो दिन दूसरी के। दो दिन एक पार्टी के पक्ष में नारे लगाने के बाद वह सड़क की दूसरी ओर चला जाता और दूसरी पार्टी के माईक के आगे जा बैठता और उनके पक्ष में बोलने लगता।

कोई पूछता तो कहता—भाई एक की हिमायत करके हमें पाप नहीं लेना है अपने सिर पर। हम तो हिसाब किताब बराबर कर देते हैं।

और फिर जब कोई पूछता, "अमलीया, इस बार किसको जिता रहे हो?"

"जनता ने जिताना है, भाई! हम कौन होते हैं किसी को जिताने या हराने वाले।" वह कहता

"फिर भी? अमलीया।"

"साला कोई-जीत जाए। अपना नशा पानी तो उसी दिन से बन्द हो जाएगा।"

आज शाम को अमली सफेद कुत्ते वालों के दफ्तर में था। आज फिर वह शराब से धुत्त था।

कहने को यह बच्चों का खेल था, पर कोई भी मामूली सूझ-बूझ वाला व्यक्ति जान सकता था कि इसके पीछे सूबेदार और नम्बरदार का हाथ प्रत्यक्ष

था। वास्तव में लड़ाई भी उन दोनों के बीच ही थी। नम्बरदार (बिना किसी कारण ही) अपनी मूछों पर हाथ फेरता हुआ चौपाल में कहता—बाबा आजकल के बच्चों पर बलिहारी और सूबेदार भी कुछ ऐसे ही स्वर में कहता—देश स्वतन्त्र है भाई।

तभी लड़कों की कोई टोली नारे लगाती निकट से निकल जाती। कभी नम्बरदार का मुंह उतर जाता तो कभी सूबेदार का चेहरा खिल उठता—और कभी इसके विपरीत।

अमली कान पर हाथ रखकर ऊंचे स्वर में गाने लगता—

मांवां रोदीयां ढिडां
ते हथ घर के ओ मांवां रोदीयां
जिन्हां दे पुत्त खेड़दे मरे पूरना
आखिया 'च रब वसदा
कोई दूर ना—

दो दिन पश्चात् अमली सड़क की दूसरी ओर काले कुत्ते वालों के दफ्तर में चला आया था। किसी ने पूछा तो कहने लगा—जरा मुंह का स्वाद बदलने के लिए चला आया हूं।

और फिर लाउडस्पीकर से आवाज आ रही थी—सफेद कुत्ते वालों को कदाचित् वोट न देना। इनसे पूछो, इनको कहो, बताओ इनकी दादी ने फारिग होने के बाद कभी हाथ साफ किए थे? भाइयो धोखे में न आना। सड़क की दूसरी ओर से आवाज़ आ रही थी—काले कुत्ते वालों को भूलकर भी वोट न दो। इनका रंग बिल्कुल कच्चा है, जो इन्होंने स्वयं रंगा है। यह रंग बिल्कुल असली नहीं। सो भाइयो, भूलना नहीं। इन्होंने कभी स्कूल का काम नहीं किया। कभी तख्तियां नहीं लिखीं, अब बची हुई स्याही इन्होंने अपने ऊपर मल ली है।

अमली धुत्त होता तो संभल न सकता।

"अपने हलके के उम्मीदवार, जिनका चुनाव निशान काला कुत्ता है, को अपना वोट डालकर सफल बनाओ··अपना कीमती वोट काले कुत्ते को ही दो—भाइयो, काला कुत्ता रात को बिल्कुल नहीं दिखता और चोरों को आसानी से पकड़ सकता है।"

फिर वह अपने मुंह का स्वाद बदलने या किसी का बुरा न करने के विचार से या—हमें किसी साले ने कुआं खुदवा देना है—कहता हुआ सफेद कुत्ते वालों के दफ्तर में जा घुसता।

गांव के सारे लड़के एक विचित्र-सी उत्तेजना में घिरकर रह गए थे। स्कूल का काम ठप्प हो गया था। चरवाहे, खेतिहर मजदूर तमाशबीन बन गये थे। सब कुछ थोड़ा या अधिक बिगड़कर रह गया था। तभी गांव का एक ट्रैक्टर उलट

गया था। उसका ड्राईवर लहूलुहान हुआ मिट्टी में पड़ा था। पास से गुजरती टोली के लड़के रुक गए थे—"भाने, बेचारे को सम्भालना। मुखे तुम डाक्टर के पास जाओ।"

तभी आगे-आगे झण्डा उठाये जाता हुआ नम्बरदार का लड़का उनको खींच कर ले गया—"सुअरो! इसकी आयु नहीं देखते। चालीस का होगा। इसकी कौन-सी वोट है। मरने दो साले को।"

उससे अगले दिन काले कुत्ते वालों का एक कार्यकर्त्ता हैजे से मर गया। उसने मुफ्त के खरबूजे देखकर बहुत खा लिये थे।

सूबेदार का लड़का सारा दिन शोक में डूबा रहता था।

—पाजी चार दिन बाद मर जाता—वोट तो डाल जाता।

अमली गाता। लोग उसके इर्द-गिर्द इकट्ठे हो जाते—तो वह ज़ोर से गाने लगता।

इस बीच कोई नीले, हरे, लाल या पीले कुत्ते वाला अपना चुनाव प्रचार करता हुआ गुजर जाता। जिस तरह पिछले चुनाव में भी एक आज़ाद उम्मीदवार था—भगतराम सूतवाला। वह स्वयं ही रिक्शे पर सवार स्पीकर में बोलता फिरता था—अपना कीमती वोट भगतराम सूतवाले को देकर सफल बनाइए। मेरी जीत दुनियां के सभी जुलाहों की जीत है।

बाद में उसकी ज़मानत ज़ब्त हो गई थी तो रात में जी भर कर पीने के पश्चात् बहुत रोया था—हरामी जुलाहों में कभी जागृति नहीं आएगी।

जिस तरह कि पहले बताया जा चुका है, मुख्य टक्कर सफेद कुत्तेवालों और काले कुत्तेवालों के बीच थी। हरे कुत्ते वाले को नम्बरदार ने नये बूट ले दिये थे और वह बैठ गया था। नीले कुत्ते वालों को सूबेदार ने यह कहकर समझा लिया था कि चार-पांच पीढ़ियां पहले उनकी दादियां, ताये-चाचे की बेटियां-बहनें थी।

चाय की दुकान पर खासी भीड़ थी। दुकान के छज्जे पर बँधा लाउडस्पीकर निरन्तर सफेद कुत्ते के पक्ष में प्रचार कर रहा था। चाय का सारा खर्च नम्बरदार के सिर था। चाय का घूंट भरता हुआ कोई कह कहा था—हम तो अपना वोट सफेद कुत्ते को ही देंगे। इस पर अमली ने क्रोध में अपना चाय का कप मेज पर दे मारा था।

"सफेद कुत्ते वाले तुझे दोपहर का खाना दे जाते होंगे न? कमीना कहीं का! जा मर, समय पर चारा ला जाकर, जो कि तेरा काम है।"

अगले दिन प्रातः ही नम्बरदार ने अपने लड़के को बूड़ेमल खत्री की दुकान खुलवाकर रंगीन बटनों की डिब्बियां ले दीं थीं। वे अब हरिजनों की झुग्गियों की ओर चल दिये थे। उन्होंने उस बस्ती के सब लड़कों को छः-छः बटन दिए—

लाल, पीले, गुलाबी, हरे, संतरी—लगायो कमीजों पर मित्रो, और बनाओ अपनी शान। बटनों के बिना भला कमीज क्या शोभा देती है। देखना, जीत गए तो हम क्या करते हैं। अपना वोट हमें देना।

उसी दिन शाम को सूबेदार ने अपने लड़के को दो किलो बताशे ले दिए। बताशे लेकर वे गांव की ओर हो चले—भाइयो शौकीनी छोड़ो। पेट भूखा हो तो रंग-बिरंगे चाहे बीस बटन हों, वह कोई महत्व नहीं रखते। आओ, जी भरकर खाओ—बताशे।

दूसरे दिन, सफेद कुत्ते वालों का लाउडस्पीकर बोल रहा था—

गोरा रंग न किसे दा होवे,
सारा पिंड वैर पै गिया—

सड़क की दूसरी ओर से आवाज आ रही थी—

—मेरा काला नी सरदार
अड़ियो शाह काला

अगले दिन, नम्बरदार की ट्राली भट्ठे पर काम करने वालों ने रोक ली—"भट्ठे तक हम भी बैठ जायें। सरदार ?"

"बैठो-बैठो। तुम्हारी अपनी ही ट्राली है।"

नम्बरदार के लड़के ने उनको ट्राली में चढ़ा लिया था। कल यही मजदूर लड़के उसने सूबेदार की ट्राली में बैठे देखे थे।

"तुम अपना वोट किसको दोगे ?

"तुम्हें दे देंगे।"

"कल तो तुम सूबेदार की ट्राली में चढ़े हुए थें ?"

"हमने भट्ठे तक जो जाना होता है। चार कोस है यहां से। बस का किराया देना तो हमारी हैसीयत में है नहीं। कुछ जल्दी पहुंच जाएं तो चार ईंटें अधिक थाप लेंगे और क्या ?"

भट्ठे पर पहुंचकर वे लड़के चुपचाप ट्राली से उतर गए थे। ट्राली चल पड़ी थी। गर्द उड़कर उनके सिरों पर बिखर गई थी। कल सूबेदार की ट्राली से भी इसी तरह की ही गर्द उड़ी थी और उनके सिर लथपथ हो गये थे, जब वे यहां आकर उतरे थे।

शाम को अमली फिर चौक में था, धुत्त हुआ। किसी ने पूछा,—"अमलिया, इस बार कौन जीत रहा है। काला कुत्ता कि सफेद ?"

अपनी मैली पगड़ी के नीचे के छोटे बालों में खुजली करते हुए उसने कहा—"कोई जीत जाये, साले हैं तो दोनों कुत्ते ही।"

उस रात कुछ ऐसा हुआ कि अकस्मात् ही बहुत जोर की वर्षा हो गई। सब पोस्टरों के रंग धुल गये—लाल, पीले, हरे, काले—हर कुत्ता एक ही रंग का हो गया। किसी ने इसे किसी का षड्यन्त्र कहा, किसी ने शरारत, किसी ने भाग्य ?

५५७, ईस्ट मोहन नगर, अमृतसर।

कहानी

मौत

मृत्युञ्जय उपाध्याय

आज शंकर बड़ी हड़बड़ी में है। रात काफी देर के बाद सो पाया था। सुबह जगने में देर हो गई। तब तक सार्वजनिक नल का पानी बंद हो चुका था। भार वाला आस पास के क्वार्टरों में पानी देकर चला गया था। एकाकी शंकर, न पत्नी न नौकर! पत्नी को मैके गए आज छः महीने बीत गए। नौकर शंकर की लापरवाही से टिक नहीं सका। यायावरी जिसके जीवन का मकसद बन गया हो, वर्तमान अतीत के कुलाबे मिलाना स्वभाव हो—वह नौकर को कब तक तरजीह दे सकता है। एक दिन भोजन परोसकर शंकर की प्रतीक्षा करता-करता नौकर ऊंघ रहा था। आखिर कब तक ऊंघता—सो गया। एक बजे रात शंकर ने दस्तक दी, तो कोई उत्तर नहीं आया। उसने आसमान सिर पर उठा लिया। नौकर जगा सही, पर उसी रात निकाल दिया गया। शंकर ने बगल वाले कुएं से दो बाल्टी जल लिया और उसे सिर पर उड़ेल स्नान की औपचारिकता निबाह कर जल्दी-जल्दी बस पकने के लिए दौड़ पड़ा।

कलकत्ता महानगरी। लोगों की अपार भीड़। बस ऐसी जैसे लोगों को बोरों के समान ठूंसती कोई मालगाड़ी हो। क्षणभर के लिए रुकी नहीं कि फिर रवाना हो गई। शंकर ने झपटकर बस की हैंडिल पकड़ी ही थी कि बस झटके के साथ चल पड़ी। शंकर का एक पैर पावदान पर और एक बाहर लटका हुआ। लोगों का ढेला ऐसा कि हैंडिल हाथ से अब छूटे कि तब छूटे। एक ओर शंकर प्राणपन से दूसरा पांव भी पायदान पर टिकाना चाहता था और दूसरी ओर इस स्थिति तक अप्रिय परिणाम के बारे में सोचता भी जाता था।

उसे लगा कि वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया है। धड़ को कुचलती दूसरी बस गुजर गई है। कुछ काल के लिए ट्राफिक जाम हो गया है। कसूरवार बस का ड्राईवर तेजी से बस को दौड़ाता निकल गया है। कोई उसका नम्बर भी नोट नहीं कर पाया है। कुछ प्रगतिशील विचार के लोगों ने उसके उसके प्रति हमदर्दी जताई है। ट्रैफिक वालों को कोसा है। व्यवस्था को वजनदार भद्दी गाली दी है। एक वर्ग इसे ही आड़े हाथों ले रहा है—लगता है देहात में नया आया है। बस वाले को इतनी फुर्सत कहाँ कि पैसेंजर को भीतर ढेल ले, तब गाड़ी बढ़ाए! उसे अपनी समझ भी

तो होनी चाहिए।

दूसरा बोला—जैसी करनी तैसी भरनी—भैया मैं कहता हूं, सब अपने करम का फल भोगने के लिए आये हैं। कोई किसी को न मार सकता है और न जिला सकता है।

भीड़ से मिलीजुली आवाज आती है—इसे अस्पताल पहुंचाया जाए। बेचारा शायद बच निकले। अब देरी करना ठीक नहीं।

इतना सुनना था कि लोगबाग धीरे-धीरे खिसकने लगे। जैसे पुलिस का गवाह बनना लोग नहीं चाहते हैं, वैसे ही अस्पताल तक जाने की इच्छा प्रायः लोगों में नहीं थी। एक नवयुवक, जो अप्रोन पहने था—लगा कि हाऊस सर्जन हो और अस्पताल के बाहर भी अपना रोब गांठना चाहता हो, आगे आया और सधे पांवों से उसकी ओर बढ़ा। जैसे कुछ गोपनीय सूंघकर पता लगाना चाहता हो। सीने से आला लगाकर कान से कुछ सुना या सुनने का नाटक किया और प्रत्यक्ष बोला—मर चुका है। अस्पताल की अपेक्षा पोस्टमार्टम हाऊस ले जाना ज्यादा अच्छा होगा। इतना कहकर वह निर्विकार हो गया जैसे कुछ हुआ ही नहीं। भीड़ धीरे-धीरे फट गई—लोग अपने-अपने कामों की ओर अनायास ही बढ़ गए।

शंकर के बड़े बाबू को किसी ने टेलिफोन से खबर कर दी है। वह दौड़ा हुआ साहिब के पास गया है—"सर, सर गजब हो गया, अनर्थ हो गया सर।"

"बात भी कहिएगा या प्रभाव ही बताते रहिएगा। हुआ क्या—यह तो आप बताते नहीं है।" साहब बोले।

—"आज शंकर बाबू बस से दुर्घटनाग्रस्त होकर चल बसे।" मुंह पर रुलाई का आभास—गला कुछ-कुछ भरा-भरा।

ऑफिस बंद हो गया है। दो मिनट के लिए मौन रहकर मृत की आत्मा के लिए प्रार्थना की गई है। बड़े बाबू ज़गह-जगह शंकर की प्रशंसा करते नहीं अघाते, "देवता थे शंकर बाबू देवता। क्रोध करना उन्होंने कभी जाना नहीं था। बराबर सबकी मदद ही करने थे, भगवान् उनकी आत्मा को शांति दे।" मल्होत्रा ऊपर से हां-में-हां मिलाता है, पर भीतर से खूब समझता है। यही शंकर कल तक बड़े बाबू की आंख का कांटा था। उससे लिए पाँच सौ रुपए तो डकार गए जैसे कभी लिया ही नहीं हो और उसको पद से डिगाने के लिए कुछ उठा नहीं रखा। उस पद पर वह अपने लाड़ले साले को बिठाना चाहता था। आज उसका भीतर आनन्द से झूम रहा है और ऊपर से ग़म का नजारा दिख रहा है। आज ही रात वह रेहू मछली और गोविंद भोग चावल लेकर बड़े साहब के दरबार में गिड़गिड़ाएगा और साले का रास्ता साफ करेगा। सच ही है किसी की कब्र पर ही किसी की खुशी का महल खड़ा होता है। मल्होत्रा को यह ठकुर सुहाती अच्छी नहीं लगती। वह शंकर का दोस्त है—सुख दुःख का बराबर भागीदार, अजा

उसका भीतर शून्यता से भरता जा रहा है, पर बड़े बाबू के कमीनेपन पर आक्रोश भी उमड़ना चाह रहा है।

उधर से आती है अनीता। बड़ी स्मार्ट और फ्लर्ट भी—कभी शंकर के दिल में घर कर गई थी। शंकर और अनीता की जोड़ी अमर थी। शंकर जो, कमाता, अनीता पर कुर्बान करता। कुंवारे शंकर को कल की चिंता कहां थी और उसका आज अनीता के साथ खुशियों की खुशबू से महमह कर रहा था। समय पर लगाकर चला जाता है। रह जाता है यादों का सैलाब भर ही। शंकर का विवाह हुआ—अनीता पर वज्रपात हुआ। दिन दो दिन वह उदास रही—अनमनी, अपने आप में गुमसुम, पर यह स्थिति अधिक समय तक टिक न पाई। ऑफिस में मजनू अनेक थे—लैलाएँ कम थीं। सो वहाँ भी गहरी प्रतियोगिता थी। सुविधाओं की खिचड़ी पकती रही और अनीता अवसर के लाभ उठाती रही। आज शंकर की मृत्यु पर उसकी आंखें शून्य में कुछ तलाश रही थीं—पता नहीं यह शंकर की तलाश थी या कभी भीगे गए क्षणों की मधुर स्मृतियों की या फिर यह सब एक नाटक था।

उसकी पत्नी उसकी यायावरी आदत से ऊबकर मैके चली गई है। उसके मैके वाले मालदार असामी हैं। लाखों का वारान्यारा उनका रोज का खेल है। शंकर उनके सामने एक गिलबिलाता नाली का कीड़ा भर है—उसकी कोई अहमियत न है और न बनाने की शंकर की ओर से कोई कोशिश ही हुई है। फिर एक साधारण किरानी से कुबेर की बेटी का विवाह क्यों कर हो पाया है। इसलिए कि शंकर प्रतिभाशाली है—किसी प्रतियोगिता में बैठकर क्लास वन ऑफिसर बन बैठेगा। इसीलिए शंकर चांदी से खरीदा गया है, पर वह उनके अनुरूप न बन सका और न अपने को उस ठाठ-बाट में ढाल ही सका। कभी-कभी उनकी पत्नी ताना देती—"तुम क्या गरीबी का रोना लेकर बैठ जाते हो, तुम्हारी जो मासिक आदमनी है, वह मुझे विवाह के पहले पाकेट खर्च मिलती थी। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि तुम्हारे साथ बंधकर किसी तरह जी रही हूं।" आए दिन ऐसी वारदातें होतीं—शंकर कभी-कभी बिफर जाता, जो सूझता बोल जाता, पर कुछ देर बाद ही उसे अपनी गलती का अहसास हो जाता। वह ऊपर से समझौतावादी बनता जा रहा है। इसलिए कि अब भीतर ही भीतर जख्म वह पाल सकता है, पर ऊपर से उसे खुश रहने का स्वांग भरना पड़ता है। दूसरे के फेंके हुए पाश से मनुष्य कहां डरता है—उसकी भुजाओं में अनंत शक्ति होती है, जिससे उसे वह तोड़ सकता है। बखूबी उस पर विजय पा सकता है। पर अपने बनाए हुए बंधन में पड़कर वह भाग कहां सकता है? उसे भाग निकलने की राह कहां मिल पाती है? वैसी ही विवशता है शंकर की। ससुराल वालों की दृष्टि से उनकी बेटी तीन बच्चों की मां बन चुकी है। नारी जन्म की सार्थकता वह सिद्ध

कर चुकी है। शंकर के मर जाने से वह विधवा भले ही हो सकती है—अनाथा, अनाश्रिता कैसे हो सकती है। उसका साला अतिशय प्रगतिवादी हो गया है। वह इतना भी साहस कर सकता है कि बहन के धुले सिंदूर को फिर लक्ष्मी की बैसाखी के सहारे किसी से जगमगा दे—उसकी बहन का वैधव्य मिट जाए। पैसा क्या नहीं कर सकता है ? फिर भी उसकी पत्नी दुःखी हो गई होगी—सिर धुनकर रो रही होगी—उसके बाल हवा में लहरा रहे होंगे। उसकी बहनें, मां, भौजाइयां गम की मूरत बनी या तो चुपचाप होंगी या शंकर की अनचाहे प्रशंसा कर अपूरणीय क्षति पर आंसू बहा रही होंगी। काल की गति पर अपनी असमर्थता को जी भर कोस रही होंगी।

शंकर के बच्चे होनहार हैं, इसलिए कि शंकर अपने जमाने का होनहार बालक रहा है। उसकी मेधा और लगन में रत्ती भर भी शंका की गुंजाइश नहीं है। शंकर जीता, तो शायद बच्चों को अपनी औकात के मुताबिक शिक्षा देता—वे अपने व्यक्तित्व को नहीं मांज निखार पाते। पर अब तो मैदान साफ है। नाना, मामा उन्हें चाहें तो विदेशों में पढ़ा सकते हैं। उनकी उत्तम शिक्षा, दीक्षा पर उनकी मां का प्रसन्न होना, फूला नहीं समाना स्वाभाविक है। परन्तु बिना बाप के बालकों को देखकर क्या कभी उसे बच्चों के बाप, अपने पति की याद नहीं आएगी ? आ भी सकती है—पर वह याद याद बनकर रहेगी—न वह अभिव्यक्ति के द्वारा प्रकट हो सकती है और न उस याद को मैके में सार्वजनीन ही बनाया जा सकता है। भय है कि प्रगतिवादी भाई कह बैठें, "क्या होगा रेखा अतीत के गीत गाने से, मरी बंदरिया को छाती में चिपकाने से। खुली दृष्टि रखो। वे रहते तो आज बच्चों को अपने मन मुताबिक किसी पाठशाला में पढ़ाते—बच्चों की यह शानदार शिक्षा न हो पाती।" वह शंकर को उसके जीते-जी कभी बर्दाश्त नहीं कर सके—"कभी उसके होने के अहसास को सहला नहीं सके हैं। कभी शंकर को साले का सम्मान या प्रेम न मिल पाया है। आज वह मरे शंकर को महत्त्व देकर अपने को बौना क्यों बनाए। जिसका अहं आकाश की ऊंचाई छू रहा है, जो पसे के नशे से पागल हो गया है, वह क्यों अपने बहनोई की मृत आत्मा के प्रति सद्भावना प्रकट करे। फिर भी ऐसा लगता है कि रात के सूनेपन में रेखा की आंखें बरबस भीग जाएंगी जिसको पोछने वाला कोई न होगा। उसे शंकर का अभाव कभी-कभी इतना सालेगा, मैके का अहसान लाख-लाख दंश बनकर उसे जब घायल करने लगेगा, तो वह न रो पाएगी, न भाग पाएगी। किसी की करुणा की बैशाखी पर जीने वाली रेखा की काली रात कैसे बीतेगी भला ? अच्छा होकर सच्चाई से वह दराकिनार होकर सतही जीवन जीने की अभ्यस्त बन जाए।

कहने के लिए शंकर की मां तीन बेटों की मां है। उसे फुसलाने, बातों से

खुश करने के लिए इतना ही काफी है—"आप तीन लाख की ढेरी पर बैठी हैं। आपके ऐसा भाग्य सबका हो। आपको कमी किस बात की है।" इससे न उसकी बूढ़ी मां को कभी सहारा मिला और न आश्रय का ठोस आधार ! मुलम्मा और बातों से वह खुश अवश्य हो जाती है और उन बेटों के हित के लिए प्राणपन से लग जाती है। उनकी यही समझदारी उनके दो बेटों के लिए वरदान है। शंकर सब समझता है। समझकर भी कभी मां पर वस्तुस्थिति का अहसास नहीं होने देता। वह लाख गरीबी में रहकर, ट्यूशन कर, रात में भूखा सोकर भी मां को सदा आर्थिक सहायता देता रहा है। पिता की मृत्यु के बाद ही सबसे छोटा शंकर कब पिता की गम्भीरता और बुजर्गियत ले बैठा और अपने व्यवहार से पिता द्वारा मां को प्राप्त सुरक्षा की क्षतिपूर्ति करता रहा—इसका पता ही नहीं चला। शंकर के समक्ष मां की ममतामयी मूर्ति सदा उभरती। वह श्रद्धा में पगता और नियमित रूप से अपने वेतन का एक निश्चित भाग भेजकर संतोष का अनुभव करता। मां को आश्वासन दिया जा रहा है—"एक बेटे के नहीं रहने से क्या होगा ? दो बेटे तो हैं। आपको अब जीना ही कितना है।" मां सब सुनती है। व्यथा में आँसू भी नहीं बहा पाती। दिन-दिन के भोजन में दाल और सब्जी की कमी, कमजोरी और रतौंधी के बाद भी साल-साल भर अंजन लगाने के लिए दूध भी नहीं मिलना मां को सब कुछ समझा देता है। उसे वास्तविकता की कठोर धरती पर पैदल चलवा देता है। वह रह-रहकर बिसूरती है, शंकर की यादों में आहें भरती है। कितनी निस्सहाय हो गई है वह। शंकर के भाई की पांचों अंगुलियाँ घी में हैं। न शंकर की ओर से जमीन की कोई देख-रेख होगी और न उसे पैदावार मिलेगी। इससे अर्थ-व्यवस्था में सुदृढ़ता का आना स्वाभाविक है।

उधर पोस्टमार्ट की रिपोर्ट भी आ गई है—"आत्महत्या के खयाल से वह चलती बस के आगे जान-बूझकर कूद गया है।" मित्रों में राजीव बड़ा दुःखी हो गया है। कारण, उसका संसार में अपना कहने के लिए शंकर को छोड़कर कोई नहीं है। वह विश्वविद्यालय के पिछले सारे रिकार्ड तोड़ चुका है और चार वर्षों से नौकरी की तलाश में चक्कर काटता रहा है। पता नहीं वह कैसी घड़ी थी कि बस पर ही शंकर का राजीव से परिचय हुआ और दोनों मित्रता के सूत्र में बंध गए। दोनों में मूलभूल अंतर इतना ही है कि शंकर सारी व्यवस्था के प्रति विद्रोही होकर भी नौकरशाही का एक अंग बनकर पारिवारिक सीमाओं में बंधकर भीतर जो भी उबाल प्रकट करे, ऊपर से कुछ नहीं कर पाता है। राजीव को अपने घर खिला देना, दो चार रुपये पाकेट खर्च के लिए दे देना और कभी-कभी सारी रात उसके खोली नुमा घर में बातचीत में बिता देना आम बात है। इसके लिए शंकर कितनी ही बार पत्नी के ताने, उलाहने और कोपभवन से जूझ चुका है, पर इससे राजीव के प्रति न उसके प्रेम में कोई दरार आयी है और न राजीव

जैसे नवयुवकों के प्रति हमदर्दी में कमी ही। आज राजीव अपने को बड़ा असहाय अनुभव कर रहा है। वह सोच नहीं पाता है कि शंकर का अभाव कभी काल प्रवाह दूर कर पायेगा भी या नहीं।

शंकर का मकान मालिक काफी रोया है। शंकर बाबू अपना पैसा गरीबों में क्यों न लुटा दें, मित्रों मे क्यों न बांट दें, उसका किराया प्रत्येक माह की पहली तारीख को मिल जाता है। पिछले वर्ष शंकर एकाउंट्स की ट्रेनिंग में साल भर रांची रहा-—रेखा अकेली क्यों रहती। वह मैके की कुबेर नगरी में ही रही। यह अलग बात है कि शंकर इस बीच कभी रेखा से मिलने नहीं गया, पर किराया नियमित रूप से भेजता रहा। कहां एक व्यावसायिक मकान मालिक, जिसके मकान में अबतक हजारों शंकर आ चुके होंगे उसके मन में शंकर के अभाव से दुःख और उसकी सार्वजनिक अभिव्यक्ति और कहां उसकी पत्नी, अर्द्धांगिनी, उसके बच्चों की मां रेखा चाहकर भी न शंकर के बारे मैं सद्भावना के शब्द व्यक्त कर पाती है और न उसकी प्रतिष्ठा और उसूल की रक्षा के लिए आत्मावलंबन का रवैया ही अपना सकती है। शंकर रहता और पत्नी जिद्द कर अलग रहने का ही समझौता करती, तो वह कभी चाहता कि वह मैके की टुकड़ों पर जिए। इसलिए कि शंकर जानता है कि वह श्वसुर हो या साला, जिसे पैसे बनाने और उसके बल पर सब कुछ करने की धुन सवार है, उससे उदारता और परोपकार के बारे में सोचना ही व्यर्थ है। उसके प्रत्येक काम के पीछे उसका स्वार्थ है। भांजों और बहन की परवरिश के पीछे अपनी अमीरी का ढोल पीटने तथा यश प्राप्ति के अलावा कोई उद्देश्य भी है क्या ?

एक झटके के साथ बस रूक जाती है। बस वाला चिल्लाता है "चौरंगी, नामोन नामोन।" शंकर का आफिस बगल में है। वह अपने पड़ाव पर आ गया है। उसकी तन्द्रा को ब्रेक लगता है। वह उठकर अपने आफिस की ओर बढ़ता है। ऑफिस के मुख्य द्वार की दीवार घड़ी ग्यारह बजा रही है। वह कुछ चिंतित मुद्रा में बड़े बाबू के पास हस्ताक्षर करने पहुंचता है। बड़ा बाबू इन्हें नीचे से ऊपर तक निहारता है और गंभीर आवाज में बोलता है—"शंकर बाबू रोज-रोज का यही रवैया रहा, तो समझ जाइये।" शंकर का मन कसैला हो जाता है और वह अपने सहयोगियों पर एक उड़ती नजर डालता अपनी टेबिल की ओर बढ़ जाता है।

वृंदावन, राजेन्द्रपथ, धनबाद, ८२६००१, बिहार

अहमदाबाद में द्विदिवसीय लेखक गोष्ठी

भारतीय लेखक संगठन और शब्दलोक (अहमदाबाद) के संयुक्त तत्वाधान में १७ और १८ जनवरी १९८१ को अहमदाबाद में दो दिवसीय समारोह का आयोजन किया गया। इस समारोह की विशेषता यह रही कि एक अहिंदी भाषी प्रांत में पहली बार पचास से भी अधिक हिंदी साहित्यकारों ने भाग लिया। गुजरात के नये और पुराने साहित्यकारों का भी पूर्ण सहयोग रहा।

समारोह के पहले दिन प्रथम सत्र में आमंत्रित साहित्यकारों के साथ ही गुजराती साहित्यकारों का भी आपसी परिचय कराया गया। पर यह परिचय मात्र औपचारिक परिचय न होकर रचना-प्रक्रिया का ही परिचायक बना। रचना प्रक्रिया के निजी संदर्भ की चर्चा करते हुए सभी लेखकों ने अपनी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। इस सत्र की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर ने की और उद्घाटन प्रसिद्ध गुजराती कवि श्री उमा शंकर जोशा ने। कार्यक्रम का संचालन भारतीय लेखक संगठन के महासचिव डा० महीप सिंह ने किया।

रचना प्रक्रिया की निजी संदर्भों की चर्चा करते हुए श्री जोशी ने कहा कि उनके अन्दर काव्य का स्रोत तभी फूटता है जब वे साधारण व्यक्ति की पीड़ा को देखते हैं और उससे आत्मीय हो उठते हैं। जन-भाषा से जुड़ना भी साहित्यकार के लिए बहुत जरूरी है और इससे रचना में यथार्थ का समावेश होता है। जब वे अपने गांव का स्मरण करते हैं तो वहां का जीवन अपने आप उनकी कविताओं में उतर आता है।

रचना-प्रक्रिया को तरह-तरह से व्याख्यायित करने वाले अन्य लेखक थे सर्वश्री गोपाल राय, रामदरश मिश्र, नरेन्द्र मोहन, हरदयाल, सुरेश सेठ, बलदेव वंसी, राजकुमार कुम्भज, देवेन्द्र इस्सर, धर्मेन्द्र गुप्त, वीरेन्द्र सक्सेना, हरदर्शन सहगल, ओमप्रकाश सिंहल, राधाकांत भारती, सत्यभूषण वर्मा, निरंकार नरायण सक्सेना, सुरेन्द्र तिवारी, विश्वभावन देवलिया, निर्मल विनोद, लखबीर सिंह निर्दोष, ज्ञान विद्यावाचस्पति, गुरमुख सिंह जीत, मुकेश बत्रा, अरविन्द ओझा, लाभशंकर ठाकुर तथा श्रीमती कुसुम अंसल, शुभा वर्मा, सिम्मी हर्षिता, शशिप्रभा शास्त्री, आशारानी व्हौरा देवकी अग्रवाल आदि।

इस दिन के दूसरे सत्र का विषय था 'भारतीय साहित्य में भारतीय मानस'।

इस सत्र की अध्यक्षता गुजराती के विद्वान श्री चि० ना० पटेल ने की। इस विषय पर श्री वत्सराज भनोत ने अभिपत्र पढ़ा। अपने अभिपत्र में श्री भनोत ने कहा कि भारतीय मानसिकता की चर्चा करने से पहले हमें भारतीय मानस को समझना होगा। भारतीय मानस में बहुत ही असमानता है। केवल एक देश में रहने से ही एकता नहीं आती है। हृदय एक हो, समान भावना और विचार एक हो तभी एकता की बात हो सकती है। फिर भी सभी भारतीयों में कुछ समानताएं भी हैं, जैसे पुर्नजन्म की बात पूरे भारत में मान्य है। वंशपरंपरा और जातिप्रथा भी भारतीयता की विशेषता है। आज भी अधिकांश भारतीय जनता मध्ययुगीन मानसिकता रखती है। शरत बाबू के पात्र तथा प्रेमचंद के कुछ उपन्यासों के पात्र सही भारतीय मानसिकता को उजागर करने वाले हैं।

इस चर्चा को आगे बढाते हुए डा० रामदरश मिश्र ने कहा आज भी भारत के हर क्षेत्र में भारतीय परम्परा विद्यमान है, पर सोचने और लिखने के स्तर पर कुछ अन्तर आया है और इसका कारण यही है कि लेखक आज दो तरह की मानसिकता के बीच जी रहा है। एक ओर सार्वभौम आधुनिकता है और दूसरी ओर आचंलिकता। और लेखक को इन दोनों स्थितियों में उलझकर लिखना पड़ता है। प्रेमचंद से लेकर आज तक भारतीय मानस ही रचना के मूल में रहा है।

डा० गोपाल ने कहा यह जीवन हिमालय के समान व्यापक है। भारतीय मानस की परख हो सके, उसे सही संदर्भों में पहचाना जा सके इसके लिए अभी तक कोई सामान्य माध्यम नहीं है। उचित होगा कि हर भारतीय भाषा के लेखक-गण अपने साहित्य की मानसिकता को सामने रखें।

इनके अतिरिक्त इस परिचर्चा में डॉ० विश्वभावन देवलिया, श्री लखबीर सिंह 'निर्दोष' तथा श्रीमती आशा रानी व्होरा ने अपने लिखित विचारों को प्रकट किया। अध्यक्ष श्री पटेल ने भारतीय मानस को भारतीय चेतना का रूप माना और इसे भारतीय दर्शन का मूलस्रोत कहा। उनके अनुसार भारतीय चेतना को समझने के लिए भारतीय दर्शन को समझना परमावश्यक है।

समारोह के दूसरे दिन दोनों सत्रों में एक ही विषय रख गया था, "समकालीन भारतीय साहित्य और सामाजिक परिवर्तन की दिशा"। प्रथम सत्र की अध्यक्षता की डा० गोपाल राय ने और संचालन का दायित्व संभाला डा० हरदयाल ने। इस सत्र में श्रीमती कुसुम अंसल तथा श्री कृष्णवल्लभ जोशी ने निबंध पाठ किया। श्री जोशी ने जहां भारतीय साहित्य को दृष्टि में रखते हुए सामाजिक परिवर्तन की दिशा खोजनी चाही, वहीं श्रीमती कुसुम अंसल ने सामाजिक परिवर्तन की बात को देशी और विदेशी विचारकों—लेखकों के उदाहरणों के साथ प्रस्तुत करते हुए कहा, "सामाजिक परिवर्तनों से व्यक्ति की मानसिकता में

भी बदलाव आया है। मनुष्य आज अपने को समझने के लिए व्याकुल को उठा है और इसी कारण आज की रचनाओं में व्यक्ति का भीतरी दर्द ज्यादा उभर आता है। यही नहीं, आज विश्व में होने वाले परिवर्तनो के कारण भारतीय समाज में भी परम्परायें टूटने लगी हैं।"

इन सारगर्भित निबंधों के बाद विषय प्रवर्तन करते हुए डा० महीप सिंह ने कहा लेखक की मानसिकता में एक उद्वेलन की स्थिति है। वह सामाजिक विसंगतियों से परेशान और बेचैन होता है पर हमें देखना यह होगा कि सामाजिक परिवर्तन को आज का लेखक किस तरह व्यक्त कर रहा है। परिवर्तन की गति को वह किस तरह तीव्र करता है, सामंती जकड़नों से लेखक अपने पात्रों को कहां तक मुक्त कर पाता है, या नई नारी मानसिकता को वह यथार्थ के धरातल पर कहां तक उभार पाता है। इन प्रश्नों पर सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में हमें विचार करना होगा।

डॉ० नरेंद्र मोहन ने कहा, "सामाजिक परिवर्तन की बात करते हुए दो-तीन बुनियादी बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। लेखक सामाजिक सुधारभावना को अपनी रचनाओं में कैसे प्रतिफलित करता है, किस जनतांत्रिक व्यवस्था में में वह सोच रहा है, जीवन मूल्यों से बड़े मूल्यों की बात कौन-सी है, उसकी सोच कितनी स्पष्ट है, आदि। इन प्रश्नों पर विचार करने के बाद ही समझा जा सकता है कि लेखक की विचारधारा क्या है और सामाजिक संदर्भों को वह किस रूप में लेता है।"

श्री विष्णु प्रभाकर ने कहा, "आजादी से पूर्व सभी भाषाओं के उपन्यासों में आजादी, नारी जागरण, अंधविश्वासों के प्रति नकरात्मक स्वर देखने को मिलता था। तब हमारा समाज ही ऐसा था। आजादी के बाद जो परिवर्तन हमारे देश में आये, रचनाकारों ने उन्हें भी अपनी रचनाओं में उभारा। यह परिवर्तन तो होता ही है। समाज में परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन आता ही है। साहित्य का काम वेदना को उजागर करना है, उपदेश या शिक्षा देना नहीं।"

ड़ा० भोलाभाई पटेल ने कहा, "गुजराती उपन्यासों में सामाजिक परिवर्तन की दिशा सरस्वतीचंद्र से मिलने लगती है। विवाह की संकल्पना की टूटन पहली बार इस उपन्यास में मिली। आज भी इस परिवर्तन की धारा तेजी से गुजराती उपन्यासों में बह रही है। स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों में आया बदलाव विभिन्न उपन्यासों में साफ दिखाई पड़ता है।"

डॉ० बलदेव वंशी ने कहा, "समाज और साहित्य का सीधा रिश्ता रहा है और साहित्य ने सामाज परिवर्तन में हिस्सा भी वटाया है पर साहित्य तभी ज्यादा

सार्थक होगा जब साहित्य के परिवेश से जुड़कर संवेदन की प्रमाणिकता की सिद्ध करेगा।"

श्री देवेंद्र इस्सर के अनुसार "साहित्य से समाज में कोई परिवर्तन नहीं आता। साहित्य का प्रभाव बहुत क्षणिक होता है जिससे किसी परिवर्तन कीं उम्मीद नहीं की जा सकती। बल्कि विज्ञान और तकनीकी साधनों ने बहुत बदलाव किया है।"

इसके उत्तर में अध्यक्ष डा० गोपाल ने कहा, "साहित्य समाज में परिवर्तन लाता है। प्रेमचंद्र के साहित्य ने न जाने कितनी सामाजिक कुरीतियो को हमारे समाज से उखाड़ फेंका। साहित्य से जो परिवर्तन आता है वह अप्रत्यक्ष होता है, उसे समझा जा सकता है, देखा नही जा सकता।"

दूसरे सत्र में इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए तमिलभाषी लेखक श्री कलेवाणान ने तमिल साहित्य से संबंधित निबंध पाठ किया। उनके अनुसार तमिल साहित्यकारों ने वहां की जिंदगी को बहुत करीब से देखा है और वे सामाजिक परिवर्तन की दिशा को भी अपनी रचनाओं में संकेत दे रहे है।

पंजाबी साहित्यकार श्री गुरुमुख सिंह जीत ने पंजाबी सांहित्य के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन की दिशा पर प्रकाश डाला।

डा० अब्दुल बिस्मिल्लाह ने कहा, "साहित्य और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित है। ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को परिवर्तन की दिशा दी, वहीं साथ ही साथ उसने अवमूल्यन की ओर भी ढकेला, जबकि साहित्य से इस तरह का खतरा नहीं हैं।"

डा० रघुवीर चौधरी ने कहा, "साहित्य का सीधा संबंध मनुष्य से है और व्यक्ति ही संभावनाओं का पुंज है, उसके भीतर से ही दृष्टि उपज सकती है। मनुष्य के पास ही हृदय और बुद्धि है, इस कारण सांहित्य से वह सीधे-सीधे प्रभावित होता है। साहित्य का प्रभाव व्यक्ति के साथ ही समाज पर भी पड़ता हे, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।"

डा० रामदरश मिश्र ने कहा, "साहित्य और जीवन के जुड़ाव से हमारी समकालीन यात्रा प्रारंभ होती है। साहित्य लघुता और साधारणता की ओर मुड़ा। शुक्ल जी ने साहित्य में लोक की महत्त्वपूर्ण स्थापना की। साहित्य केवल शब्दरचना नहीं ब्रल्कि जीवन है। कोई ठोस पैमाना नहीं जिससे सामाजिक परिवर्तन को मापा जा सके। बिना सामाजिक परिवर्तन के भी कोई साहित्य बड़ा नहीं बनता। अपने समय की गहरी, व्यापक और संश्लिष्ट पहचान ही रचना का उद्देश्य है। साहित्य से बदलाव आता है लेकिन वह तत्कालिक नही होता। परिवर्तन करने की चेतना रचना के भीतरी रेशों में व्याप्त होती है।"

श्री धर्मेन्द्र गुप्त ने कहा, "अन्दर की वेचैनी साहित्य के मूल में होती है।

व्यवस्था कीं टकराहट का फैशन, अन्दर का डर और अत्याधिक चतुरता ने हमें आदमी नहीं रहने दिया है। साहित्य पर भीं इसका सीधा असर पड़ा है और उसका प्रतिरूप भी वही हो गया है।

श्री सुरेश सेठ ने कहा, "आम आदमी के दुख-सुख को अपनी साझेदारी का रूप दें दे तो साहित्यकार की सही उपलब्धि होती है। पर आज के साहित्य में एक व्यवसायिकता, कठमुल्लापन आता जा रहा है।"

इस समारोह के साथ ही लघु पत्र-पत्रिकाओं तथा आमंत्रित लेखकों की पुस्तकों की एक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया, जिसका उद्‌घाटन श्री जवाहर चौधरी ने किया और उन्होंने लेखक प्रकाशक के संवंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा, "वदलती परिस्थितियों के दवावों में लेखकीय स्थिति भी वदलने लगी है। सत्साहित्य और प्रतिवद्ध साहित्य आज पिछड़ने लगा है और कुरुचिपूर्ण साहित्य फैल रहा है। व्यवासियक प्रतिष्ठान ईमानदारी का निर्वाह नहीं कर सकते। सदा ही लेखक प्रकाशक के वीच एक दीवार वनी रहती है। दोनों के संवंधों में सुधार लाने के लिए जरूरी है कि पारस्परिक समस्याओं को समझते हुए आपनी अपनी स्थितियों पर दोनों विचार करे। लघु पत्रिकाओं के महत्त्व को भी इसी ढंग से समझाना होगा। तभी सही साहित्य सामने आ पायेगा।

इस सत्र की अध्यक्षता गुजराती विद्वान डा० हरिवल्लभ भायाणी ने की।

प्रथम दिवस की गोष्ठी के उपरान्त सन्ध्या में गुजराती कवि गोष्ठी हुई जिसमें निरंजन भगत, लाभशंकर ठाकर, चिनु मोदी, चंद्रकान्त सेठ, पिनाकिन ठाकोर, रामानुज, मनहर मोदी तथा अन्य प्रतिष्ठित कवियों ने कविता पाठ किया। श्री नलिन रावल ने इस गोष्ठी का संचालन किया।

दूसरे दिन की गोष्ठी के बाद हिन्दी कवि गोष्ठी की धूम रही। इसकी अध्यक्षता डा० रामदाश मिश्र ने की और संचालन डा० नरेन्द्र मोहन ने किया। राजकुमार कुंभज, वलदेव वंशी, कुसुम अंसल, शुभा वर्मा, अव्दुल व्रिस्मिल्लाह, उपेन्द्र रैण, निर्मल विनोद, निरंकार नारायण सक्सेना, विश्वभावन देवलिया, रमेश सोनी, लखमीर सिंह निर्दोष, वीरेन्द्र सक्सेना आदि कवियों-कवयित्रियों ने अपनी कविताएं सुनाईं।

रविवार को निर्धारित कार्यक्रमों के उपरांत एक और विशेष कार्यक्रम सम्पन्न हुआ, 'शव्दलोक' के ट्रस्टियों ने श्री विष्णु प्रभाकर का 'सम्मान समारोह' योजित करके इस द्विदिवसीय साहित्य सम्मेलन की गरिमा को द्विगुणित कर दिया। 'श्री विष्णु प्रभाकर सम्मान समारोह' की सूचना देते हुए 'शव्दलोक' के ट्रस्टी एवं गुजरात के प्रसिद्ध साहित्यकार डा० रघुवीर चौधरी ने श्री विष्णु प्रभाकर की साहित्य-सेवा का उल्लेख किया और उनसे प्रार्थना की कि वे 'शव्द लोक' द्वारा प्रस्तावित 'शव्द-शिलपी' की उपाधि स्वीकार करें।

(प्रस्तुतिःसुरेन्द्र कुमार तिवारी)

बेंगलोर में प्रेमचंद संगोष्ठी

बेंगलोर में दिनांक २८ एवं २९ नवम्बर १९८० को स्थानीय प्रेमचन्द जन्म शताब्दी समारोह समिति ने श्री परमानन्द गुप्त के संयोजन में अखिल भारतीय स्तर पर 'प्रेमचन्द परिचर्चा' का आयोजन उक्त समिति के अध्यक्ष श्री इन्द्रसिंह मित्तल की अध्यक्षता में स्थानीय तमिल संगम सभागार के भव्य मंच पर किया। इसमें हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ कथाकारों ने और समालोचकों ने बिना किसी पूर्वाग्रह के अपने विशुद्ध साहित्यिक एवं वैचारिक आलेख प्रस्तुत किये। इस संगोष्ठी का उद्‌घाटन कन्नड़ भाषा के प्रख्यात कवि एवं चिन्तक डा० एम० गोपालकृष्ण अडिगा ने किया जो कि कन्नड़ के निराला माने जाते हैं। पश्चात् 'प्रेमचन्द परिचर्चा' चार सत्रों में क्रमशः डा० चन्द्रकान्त वांदिवडेकर (पूना) डा० नरेन्द्र कोहली (दिल्ली), हंसराज रहबर (दिल्ली), एवं डा० गणेशन (मद्रास) की अध्यक्षता में हुई। इस परिचर्या में 'प्रेमचन्द की प्रासंगिता' विषय पर डा० देवेश ठाकुर (बम्बई), डा० नरेन्द्र कोहली (दिल्ली), 'प्रेमचन्द के उपन्यास' विषय पर डा० कमल किशोर गोयनका (दिल्ली), 'प्रेमचन्द का इतिहास बोध' विषय पर डा० हरदयाल (दिल्ली), 'प्रेमचन्द और आधुनिक कथा लेखन' विषय पर डा० शम्भूनाथ (कलकत्ता), 'प्रेमचन्द परवर्ती ग्राम्य परिवेश' विषय पर डा० अरविन्द पाण्डेय (गोवा), 'मानव मनोविज्ञान का चितेरा:' प्रेमचन्द' विषय पर डा० गणेशन (मद्रास), 'प्रेमचन्द सामाजिक सन्दर्भ : साहित्यिक दृष्टि' विषय पर श्रीमती मालती शर्मा (पूना), 'प्रेमचन्द के साहित्य में मध्यवर्ग' विषय पर डा० श्रीधर सिंह(कालिकट), 'प्रेमचन्द की सांस्कृतिक चेतना' विषय पर डा० चन्द्रकान्त वांदिकडेकर (पूना), 'प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना' विषय पर डा० ललित शुक्ल (दिल्ली) तथा 'प्रेमचन्द : राष्ट्रीयता एवं साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में' विषय पर डा० ज्ञान अस्थाना (हैदराबाद) ने अपने सारगर्भित एवं पूर्वाग्रह-मुक्त आलेख प्रस्तुत किये। उक्त संगोष्ठी की सर्वोत्तम उपलब्धि यह रही कि प्रेमचन्द को किन्ही वादों के कठघरे में नहीं घसीटा गया और स्वतंत्र रूप से प्रेमचन्द का साहित्य सर्जना पर मौलिक रूप से विचार किया गया।

(प्रस्तुतिः डा० वेंकटेश नायडू, सिकन्दराबाद)

कविताएं : चयन : सुनीता जैन

एक इण्टरव्यू / स्नेहमयी चौधरी

मैंने बच्चे को नहलाती,
खाना पकाती—
कपड़े धोती—
औरत से पूछा—
सुना तुमने तैंतीस साल हो गए
देश को आजाद हुए,
उसने कहा—अच्छा
फिर तैंतीस साल दोहराकर
आँगन धोने लगी।

दफ्तर जाती हुई, बैग लटकाए
बस की भीड़ में खड़ी—औरत से
यही बात मैंने कही
उसने उत्तर दिया—
तभी तो रोज दौड़ती भागती
दफ्तर जाती हूं,
मुझे क्या मालूम नहीं ?

राशन, सब्जी और मिट्टी के तेल का पीपा लिए
बाजार से आती औरत से
मैंने फिर यही प्रश्न पूछा—
उसने कहा—'पर हमारे भाग में कहाँ ?'

फिर मुझे शर्म आई
आखिरकार मैंने अपने से ही पूछा—
तैंतीस साल आजादी के
मेरे हिस्से में क्या आया ?
उत्तर जो मैं दे सकती थी—

वह था—
ड्राइंग रूम में सजसंवरकर गुड़िया की तरह बैठना
पर पुरुषों से बकबक करना—वह भी पति के सामने
उसके बाद घर की व्यवस्था देखना,
घर के स्वामी की आज्ञा का पालन करना,
बस इसके आगे मैं मौन थी।

देश की आजादी का
हम औरतों से क्या ताल्लुक?

क्योंकि यह प्रश्न
औरत के सती हो जाने के साथ
अभी भी जुड़ा है।
सती मैं यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ में
कह रही हूं।

इसलिए
प्रश्न को परे फेंक
बेमाने समझकर
मैंने उससे जूझने का दायित्व
दूसरों पर छोड़ दिया।

—जी-६, माडल टाउन, दिल्ली-६

बग्घीघर / कुसुम अंसल

घर के पीछे, आज भी
वह पुराना बग्घीघर है
बहुत साल पहले
कभी उस बग्घी पर
हमारा कोचवान, तेल और पालिश
रगड़कर उसे चमकाता था।
सफेद घोड़ा जोतकर, सामने लाता था।

हर शाम दादाजी और हम
इस पर सवार, सैर को जाते थे।
दादाजी की गहन गम्भीर आंखों
झकझक करते सफेद कपड़ों, सफेद बालों से
सारा परिवेश जैसे एक
उज्वलता से भर जाता था।
साधारण सी बात थी, पर
साधारणता से उठकर कहीं दूर तक जाती हुई
आस-पास सड़क के छूटते किनारों, भीड़ से
उपजकर, मन के रहस्य खोलती हुई।
और दादाजी, उन बातों के साथ
कितना कुछ समझा जाते थे
बातों का कोई अंत तो
कभी रुका नहीं; अटूट ताँता है
जैसे वह आज भी दिमाग में सरसराता है।
दादाजी चले गये हैं
सफेद घोड़ा मौत के सफेद कुहासे में
कब का खो गया है
बग्घी का कोचवान बूढ़ा होकर
अपने गाँव लौट गया है।
उसका बेटा ड्राईवर होकर
अब हमारी कार चलाता है।
बग्घी को घसीटकर
टीन की छत के नीचे छोड़ दिया गया है
(भाई के आदेश पर)
अब बग्घीघर मोटर रखने के काम आता है।
बग्घी का रंग रूप, समय के हाथों
सिर्फ लकड़ी होकर रह गया है
बचा है मात्र पिंजर।
और उस दिन तो,
बग्घी के जिस्म को
कुल्हाड़ी से काट-तोड़
कोचवान के बेटे ने
चूल्हा जलाने के काम में ले लिया है।

एक जिये हुए जीवन का सारा वैभव
मौत के कितने ही आयामों से गुज़रकर
आज आग के अंतिम आलिंगन को
अर्पित हो गया हैं।
मैंने सुबह देखी, शाम भी देखी है
अब रात होते ही लगा है
एक बेहद खूबसूरत अतीत
वर्तमान के आँगन में ढह गया है।

एन-१४८, पंचशील पार्क, नई दिल्ली

अंधी सदी / बसन्त कुमार परिहार

तुम्हारी आँखों ने / आज तक
सिर्फ़ / वही देखा है / जो
देखना चाहा है / और
कितने ही / सही दृश्यों को / ग़लत
घोषित कर दिया / तुम्हारी
आँख के बिलौरी काँच ने / जिसे
यूँ तो / हर शै / वृहदाकार
दिखनी चाहिए थी / पर
ताजमहल के बुर्ज को / तब भी
सदियों पहले / अपनी नींव में
ग़र्क / कटे हाथों का एहसास
कब हुआ था / और
आज भी / सदियों बाद / क़िले की
सफ़ील के / अँधे लाल पत्थर / खंदक में
ग़र्क होती लाशों से / कितने
बेख़बर हैं ?
तुम्हारी बात और है / ऐ दोस्त !

पर / मेरी आस्था को उम्मीद नहीं
कि / आसमान पर मँडराती / यह चील
और / काँव-काँव करते / वे कौए
गर्म-गर्म गोश्त / नोचने के बदले
लाशों की शिनाख़्त करेंगे / तब
तुम ही कहो / कि
अंधी सदी के / इस
ठिठुरे / मील के पत्थर को
सब्ज़ बाग़ दिखाने से / वक्त को
कौन सी राहत मिलेगी ?

१/१ पत्रकार कालोनी, अहमदाबाद-१३

इंतजार / मनोहर बंद्योपाध्याय

वह अपनी आवाज़
भीड़ को सौंप देता है
या किसी एकांत
की खाई में दवा देता है निराश होकर।
वेच देता है वह अपना
अस्तित्व रद्दी में।

आखिर वह क्या इंतजार है
जिसके लिए सह लेता है
वह चुपचाप सभी प्रहार
दुर्व्यवहार, अत्याचार
बन जाता है जिसके खातिर
वह मूर्ख सभी के लिए।

वह क्या मजबूरी है जिसके लिए
वह जी नहीं सकता औरों की तरह
और काट देता है जिंदगी
एक तवे की तरह !

ए-१९९, ईस्ट किदवई नगर, नयी दिल्ली-२३

तुष्टि-परंपरा / साँवर दइया

स्थापित मूर्तियों के आगे
श्रद्धा से नतमस्तक खड़े थे अनेक लोग
लेकिन मैंने
प्रश्नचिह्न लगाने शुरू कर दिये
प्रश्नचिह्न-दर-प्रश्नचिह्न
इसी बीच उन मूर्तियों में हुई हलचल
दो हाथ लपके मेरी ओर
मुझे अपने पास स्थान देकर
ये सब भव्य मुद्रा में मुस्कराने लगे
मैं भी सुख भोगने लगा
नतमस्तक भक्तों की अनन्त भीड़ का !
आज उसी भीड़ में से एक व्यक्ति
प्रश्नचिह्नों की बौछार कर रहा है
फिर वही हलचल मूर्तियों में आज
इस बार मैं आगे बढ़ता हूं
उसे अपनी बगल में स्थान देता हूँ
और मुस्कराने लगता हूँ
उसी भव्य मुद्रा में
पूर्व स्थापित मूर्तियों के साथ !

जेलरोड, बीकानेर (राज०), ३३४००१

समानांतर व्यक्तित्व / विजय शर्मा

एक आदमकद व्यक्तित्व
चलता है मेरे साथ-साथ
समानांतर
मैं परेशान हूं कि
क्यों मेरे बार-बार
पकड़ने की कोशिश के बाद भी

वह मुझसे
दूर रह जाता है
मैं भयभीत हूँ कि
क्यों मेरी इच्छा के बिना
हर बार
मेरे पीछे-पीछे आता है
विचित्र है यह खेल :
मैं हूँ / व्यक्तित्व है
व्यक्तित्व है / मैं हूँ
मेरा होना—व्यक्तित्व का है
कोई है / जो मेरे और
व्यक्तित्व के बीच है—
जो हमें लड़ाता भी है
और हममें से किसी एक को
(वक्त आने पर)
सिर चढ़ाता भी है
किंतु फिर भी
मैं वह और व्यक्तित्व
आखिर है तो मेरे ही
चाहे वहम कितना ही लड़ाए /
सिर चढ़ाए
अहम् के अस्तित्व का
बड़ा ही विचित्र है यह खेल ।

जे० ई० एस० कालेज, जालना (महाराष्ट्र)

जन्म दिन / कमल कुमार

एक सैलाब—
गुजरे वक्त का—हिसाब माँगता ।
टूटे इंद्रधनु—
सलूशन से जोड़ने की बेतुकी तरकीब ।

उदास सांझ—
हवा में तिरते सूखे पत्ते ।
ठंडी खामोशी—
अंधियाते आकाश में—भटका अकेला पक्षी ।
अक्तूबर का आखिरी सप्ताह—
धूप का टूटा डंक ।
पनियाली धूप की गरम हथेली
दर्द को सहलाती ।
दर्द—
परत-दर-परत रिसता रहा—भीतर ।
अजी सुनती होऽ—
—चाय के साथ कुछ मीठा भी लाना—
आज मेरा जन्मदिन है···

डी-३८, प्रेस एन्क्लेव साकेत, नयी दिल्ली-१७

ज़रूरी है···? / इंदु वशिष्ठ

तुम्हारे लिए
यह घर
एक खूबसूरत कैलेंडर
की तरह है / जिसे तुम
सुबह-शाम / तारीखों की तरह
देख लेते हो
चरागाह से / भटककर / आने के बाद
तनी हुई शिराओं को
ढीला करने के लिए
तने हुए शरीर को / कमरे में फेंक देते हो
सिकुड़ी चादर की तरह
और फिर / धुआँ उगलती / आँखों को
दोनों हाथों से पोंछते
कैलेंडर पर टँगे / चेहरों में

तलाशने लगते हो / कुछ रिश्ते
जो अँधेरी रातों में / आत्मीय लगने लगते हैं
सब जानते हैं / कि / बरसों से टँगा
यह कैलेंडर
अतीत बन जाने पर भी
चिपका हुआ है
सचमुच मजबूरी है
अपनी सही / पहचान के लिए
इसका
टँगा रहना / जरूरी है

हिंदी महाविद्यालय, नल्लाकुंटा, हैदराबाद

तुम्हारी शख्सियत / प्रबोध कुमार गोविल

तुम
हमेशा खोये-खोये, उदास से रहे
ये सोच कर, कि पल पल तुम चुक रहे हो
और कल तुम नहीं रहोगे ।
तुम भयभीत से रहे कि हर लम्हा
कोई छीन रहा है तुमसे उम्र तुम्हारी
और कल तुम नहीं रहोगे ।
तुम बुझे-बुझे से रहे
कि वक्त के एक टुकड़े के बाद
तुम्हारा वजूद नहीं रहेगा
कि शख्सियत मिट जायेगी तुम्हारी
और कल तुम नहीं रहोगे ।

काश, तुम आज होते !
और देख पाते
कि मेरे मन के विराट मरुस्थल पर
भीषण झंझावात और रेतीले तूफ़ानी अंधड़

रेत पर बने, तुम्हारे पाँवों के निशान भी तो
मिटा नहीं पा रहे हैं...
तुम, तुम्हारा वजूद, तुम्हारी शख्सियत की तो
बात ही क्या ?

के-९ सेक्टर ७ वाशी, नयी बंबई-४००७०३

प्रतिशोध / नरेश शर्मा

ठीक रोज की तरह
मेरी,
भींचीं हुई मुट्ठियाँ
नींद में
खुल गईं हैं।
शायद,
उनके भीतर प्रतिशोध का रक्त
अब, सोने लगा है !
मगर
अब भी
कुछ प्रतिध्वनियाँ मौजूद हैं
जो
रेंगती जा रही है
मेरे भीतर से भीतर तक !
डर है कि,
इतनी रात गये कहीं
जाग न जाए
सारा का सारा शहर
अचानक !
और मैं, उठकर चिल्लाने लगूँ !

चारमहल-२१-४-३९७, हैदराबाद

समय की कैद / रश्मि मल्होत्रा

समय की गुफा में
खो गए, उन क्षणों को
ढ़ूंढती हैं यह नज़रें
और पल-पल ठिठक जाती हैं…।
छितरायी-सी उन यादों को—
तन ओढ़ लेना चाहता है
मन उनको गठरी बना,
छुपा लेना चाहता है
देह,
और देह में बंधा-बंधा मन छटपटाता है।
समय की अँजुलि से
छूट गई
उन मधुर तस्वीरों को
फिर से समेट लेना चाहता है,
होठों की कैद से
उन गीतों को फिर से
गुनगुनाना चाहता है
जो समय की कैद में है गुम
सदा-सदा के लिए…
बार-बार के बिखराव से
थक गया है अब तो
यह तन 'औ' यह मन ! !

बी० ई०। १० डी-डी० डी० ए० फ्लैट्स मुनीरका, नयी दिल्ली

हर बार | जसजीत कौर[1]

वही पुराना
रिश्तो का ताना-बाना
उधड़ते बुनते
कितने कचनारों
में रंग भरे
और उड़ेल दिये
उल्लास और आँसुओं के बीच
प्रेम के शून्य खींचते
उँगलियाँ नम हो गयीं
लेकिन
यह सांसों से गुथा
दायरा क्षितिज को
छू न पाया
कौन अपनी औकात भूला ?
मैं ? या वह ?
या फिर
क्षितिज ही
विशाल हृदय हो न पाया
हर बार
पराजित होकर
मैंने आगत की रेखा पर
खड़े होकर
आंचल समेटा
और
एक नई शुरुआत की
प्रतीक्षा की।

एच-२४ साउथ एक्सटेंशन १, नयी दिल्ली-४९

[1] अंग्रेजी की सुप्रसिद्ध कवयित्री जसजीत कौर की मौलिक रूप से लिखी हिन्दी में यह पहली कविता है।

प्रचुरता के समय

..................उत्पादक को अब अधिकाधिक उत्पादन करने से भयभीत होने की कोई जरूरत नहीं है..................खाद्य निगम उसके अतिरिक्त उत्पादन के लिए तैयार बाजार की व्यवस्था...... ....सारे वर्ष के दौरान और लाभकारी मूल्य पर भी करता है।

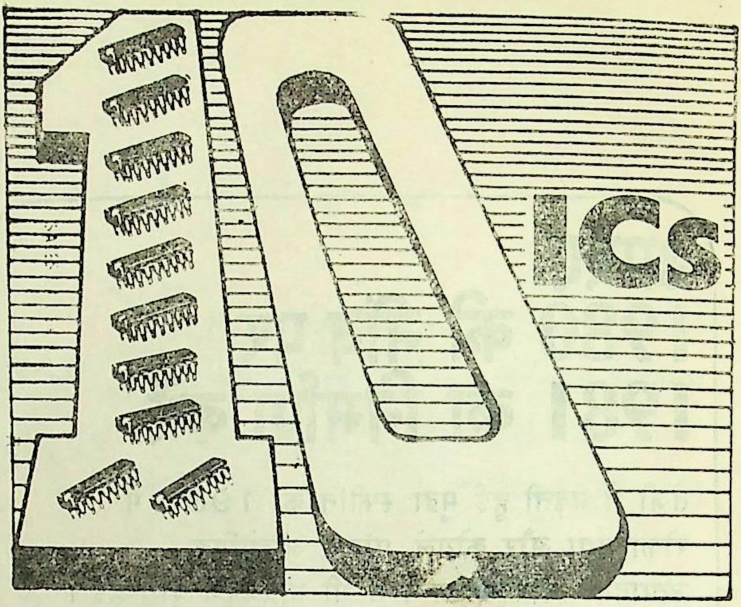
तथा

अभाव के समय

..................उपभोक्ता को बढ़ते मूल्यों तथा अभावों की आशंका नहीं करनी चाहिए..................खाद्य निगम उचित मूल्य पर अनवरत आपूर्ति को सुनिश्चित करता है।

सुनियोजित अनाज-संग्रह, भण्डारण, परिचालन, वितरण तथा अनाज के सुरक्षितकोष के निर्माण से जमाखोरी तथा मुनाफाखोरी के विरुद्ध संघर्ष में सहायता करता है।

भारतीय खाद्य निगम
राष्ट्र की सेवा में संलग्न



Integrated circuits represent the latest advance in electronic technology. We introduced the first 7 IC circuit in India, nay, in the world of black & white TV sets.

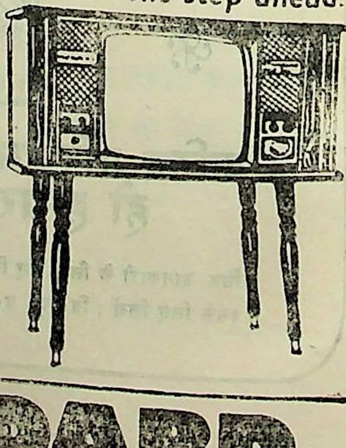
Research is a round-the-clock effort at STANDARD, that is why we are at the top. We may not be largest in number but we are surely foremost in TV technology.

Now, we bring you STANDARD OPAL-24 with 61 cm. screen and no less then 10 ICs, beating our own record. The larger the number of ICs, the more reliable the set and the longer its lifespan. Even if you pay a little more, its cheaper in the long run.

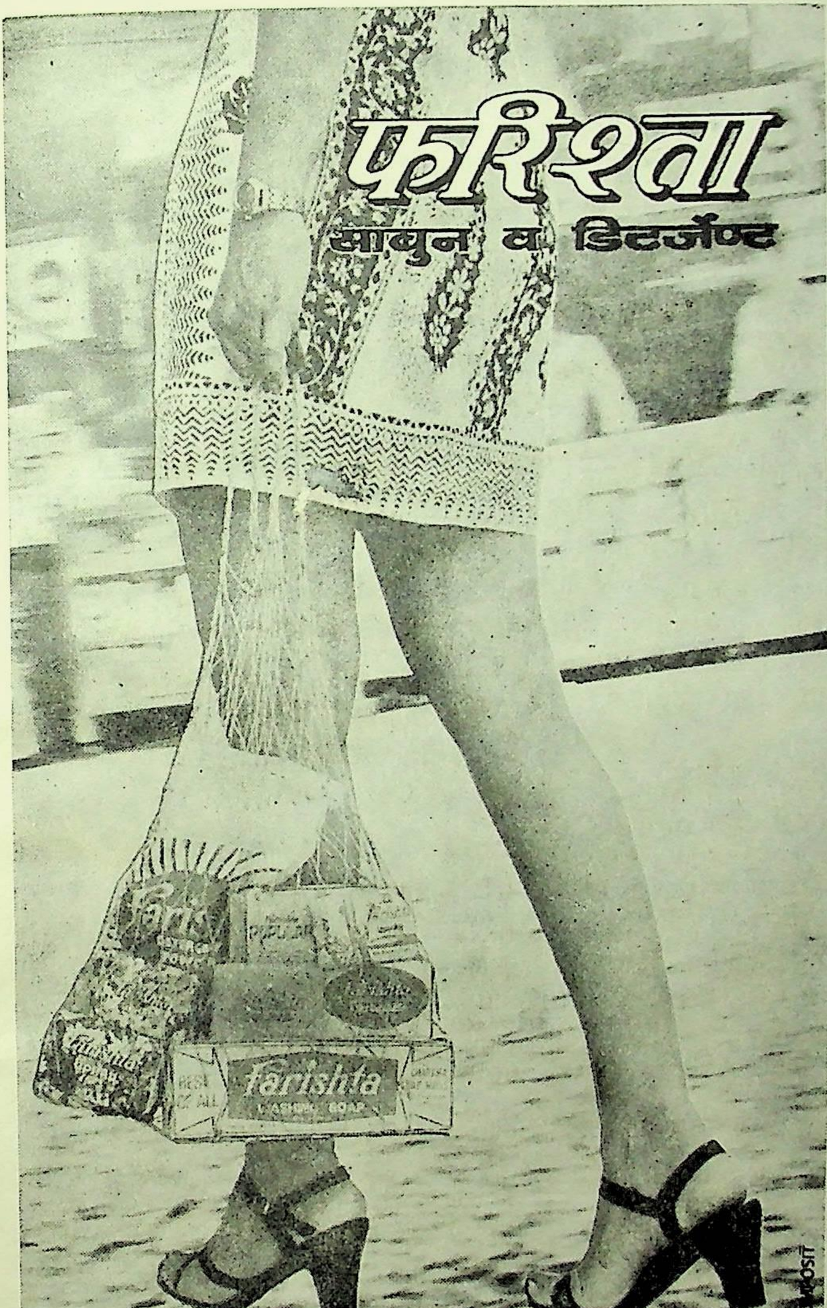
And if you still have any doubts about STANDARD's superior technology, we make sets with 11 ICs (with built-in TV games) and with 13 ICs (with remote-control)

A record that will not be broken easily.

STANDARD TV -always one step ahead.



STANDARD


फरिश्ता
साबुन व डिटर्जेण्ट
farishta

SANCHETNA : March 1981 Rs. 3.00 R. No 14319/67

Edited & Published by Dr. Maheep Singh, for Mrs S.K. Singh from H. 108, Shivaji Park, New Delhi-110026. Printed at Roopak Printers Navin Shahdara, Delhi-110032.